UNIVERSAL LIBRARY

OU_186221

UNIVERSAL LIBRARY

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H81 G89K    Accession No. H3272

Author गुप्त, सुरेशचन्द्र

Title काव्यानुशीलन    1959.

This book should be returned on or before the date last marked below.

काव्यानुशीलन

# काव्यानुशीलन

(हिन्दी के प्रतिनिधि काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन)

प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए०
देशबन्धु कॉलेज, कालका जी, नई दिल्ली

हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य : साढ़े चार रुपए
प्रथम आवृत्ति सन् १९५९

मुद्रक :
इंडियन एक्सप्रेस
मोरीगेट
दिल्ली

## सूचिका


| | | |
|---|---|---|
| | काव्य-मन्दाकिनी | ७ |
| | उपक्रम | १३ |
| १. | कविता का स्वरूप | १७ |
| २. | चारण कवियों का दीप्त ओज | २३ |
| ३. | पृथ्वीराज रासो : परिचयात्मक अध्ययन | २८ |
| ४. | चन्द और भूषण की रस-योजना | ३५ |
| ५. | कबीर-काव्य : एक अध्ययन | ४१ |
| ६. | जायसी के काव्य का भाव-पक्ष | ५१ |
| ७. | जायसी का रहस्यवाद | ५८ |
| ८. | 'पद्मावत' में रूपक-तत्व | ६४ |
| ९. | सूर का जीवन-दर्शन | ७२ |
| १०. | तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य | ८६ |
| ११. | 'कवितावली' का साहित्यिक सौन्दर्य | ९१ |
| १२. | जमाल का भावपूर्ण काव्य | १०३ |
| १३. | बिहारी के काव्य का कला-पक्ष | १०९ |
| १४. | 'साकेत' में नायक कौन है ? | ११५ |
| १५. | 'यशोधरा' में सम्यक् सम्बुद्ध | १२० |
| १६. | 'कामायनी' का काव्य-सौष्ठव | १[illegible] |
| १७. | 'कामायनी' में दार्शनिक विचा | १[illegible] |

| | | |
|---|---|---|
| १८. | पन्त जी का काव्य-सौष्ठव | १४६ |
| १९. | 'निराला' जी की दार्शनिकता | १६० |
| २०. | महादेवी जी के काव्य का भाव-पक्ष | १६८ |
| २१. | महादेवी जी का रहस्यवादी काव्य | १७४ |
| २२. | महादेवी जी के काव्य में छायावाद | १७९ |
| २३. | वीर-सतसई : एक दृष्टिकोण | १८५ |
| २४. | 'दिनकर' जी की 'सामधेनी' | १९७ |
| २५. | 'दिनकर' जी के जीवन-सिद्धान्त | २१३ |
| २६. | 'हल्दीघाटी' में वीर रस | २२० |
| २७. | हल्दीघाटी : एक अध्ययन | २३० |
| २८. | हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना | १४१ |
| | परिशिष्ट | २४९ |

दृष्टव्य :

पृष्ठ-संख्या १५२, १५३ तथा १५४ पर भूल से २५२, २५३ तथा २५४ मुद्रित हो गया है। कृपया पढ़ते समय शुद्ध कर लें।

# काव्य-मन्दाकिनी

## कवि

कवि ! तुम जीवन-ज्योति में, ले आना लौ शेष ।
जिससे मानव पा सके, संस्कृति का मधु वेष ॥१॥

कवि-प्रतिभा सबसे पृथक्, रखती है अस्तित्व ।
जन-जन के कल्याण का, कवि पर ही दायित्व ॥२॥

कवि की वाणी में सतत, जन-हित का मृदुभाव ।
जिसके सम्मुख झुक रहे, जन-जन के कटु दाव ॥३॥

कवि के सम्मुख रे भला, किसको रहा दुराव ।
जड़ता में भी देखता, जो चेतन के भाव ॥४॥

कवि-जीवन में वेदना, अन्तर्हित है शान्त ।
फिर भी सम्मुख आ रही, सुभग कल्पना कान्त ॥५॥

कवि का जग की रीति पर, कितना सम अधिकार ।
प्रीति, मान, मद, रोष सब, हो जाते साकार ॥६॥

चारण कवि की भावना, लिए ओज अनमोल ।
जिसकी वाणी को कभी, सके न कायर तोल ॥७॥

चारण ! फिर से छेड़ दो, अपना सुन्दर गीत ।
कायरता से जूझकर, आओ प्यारे मीत ॥८॥

चारण का चिर ओज फिर, भर कायर में प्राण ।
सभी ओर को गूँजता, लेकर स्वर्ण विहान ॥९॥

चारण ! फिर से आज तो, गाओ मारू राग ।
जिससे ये कायर बढ़ें, अलस भाव को त्याग ॥१०॥

## कविता

जग की सुन्दरता हुई, कविता में साकार ।
मानवता से युक्त हो, बहा रही सुख-धार ॥११॥

जग के अनुभव से रहित, कविता किसके अर्थ ?
जब तक कवि-चिन्तन नहीं, तब तक कविता व्यर्थ ॥१२॥

कविता में सद्भाव का, होता सहज विकास ।
कवि के अन्तस् में नियत, आदर्शों का वास ॥१३॥

कविता कवि को नित्य ही, देती मन में तोष ।
उससे मन के रिक्ततम, भर जाते हैं कोष ॥१४॥

कविता के संसार में, कवि का ऐसा राज्य ।
असद्-भाव की कालिमा, जहाँ निरन्तर त्याज्य ॥१५॥

हिन्दी का पहला चरण, कितना सरल स्वच्छन्द ।
'रासो' लेकर आ रहे, कुशल आदि कवि चन्द ॥१६॥

अपने गर्जन से सदा, बरसायी युग ज्वाल ।
वीर चन्द के काव्य में, अंगारे विकराल ॥१७॥

भूषण के युग काव्य में, रहता शौर्य ललाम ।
शान्त गगन में भी जहाँ, चढ़ता विद्युद्दाम ॥१८॥

सफल लाल की लेखनी, देकर 'छत्र-प्रकाश' ।
सत्वरता से तोड़ती, कायरता के पाश ॥१९॥

सूदन की रसमय कथा, लेकर नया हुलास ।
उस सुजान के भाव का, करती सफल विकास ॥२०॥

## लोकगीत

लोक-गीत की भावना, कृत्रिमता से दूर ।
उसमें मन का राग है, और झूमते शूर ॥२१॥

लोक-गीत को भूलकर, क्या पाओगे मीत ।
इसमें जग का सार है, इसमें मन की प्रीत ॥२२॥

लोक-गीत के गान में, मिलता स्वर्गानन्द ।
भावों को साकार पा, हर्षित है जन-वृन्द ॥२३॥

लोकगीत की सहजता, कितनी सरल वरेण्य ।
पद-पद में चिर-स्वच्छता, नहीं कहीं मालिन्य ॥२४॥

जन-गीतों के मूल में, सहज हृदय के तार ।
निश्छल मन से गा रहे, कृषक मधुर मल्हार ॥२५॥

जनता के मन में बसी, विश्व-प्रेम की धार ।
लोक-गीत के राग में, काव्य हुआ साकार ॥२६॥

भोजपुरी में व्याप्त है, कजली का संसार ।
गीतों की हर लहर में, है कजली त्यौहार ॥२७॥

खेतों की हर डौल से, उठे गीत अम्बार ।
इनमें मन की बात है, मधुमय रस की धार ॥२८॥

चौपालों में गूंजते, जन-गीतों के राग ।
जैसे पुष्पों पर सुभग, छविमय पिंग पराग ॥२९॥

इन गीतों में बोलता, ग्रामों का संसार ।
इनके अन्तर में छिपा, सुकर प्रीति का हार ॥३०॥

मेरे मन में बस गई, जन-गीतों की शान्ति ।
भोलेपन से कह रही, 'छोड़ो जग की भ्रान्ति' ॥३१॥

मालव के सारे तरुण, गाते मन के छन्द ।
पूली के गट्ठे लिये, बढ़ते पथ पर मन्द ॥३२॥

पनघट पर सखि गा रहीं, बिरहा की मधु तान ।
'ओ प्रियतम मन में बसे, आओ पवन समान' ॥३३॥

डगर-डगर पर गूँजती, लोक-गीत की तान ।
इन खेतों में बस रहे, गीतकार के प्रान ॥३४॥

विहगों का कलरव लिये, जल का कल संगीत ।
देखो, बाला जा रही, ले कजली का गीत ॥३५॥

मन का मधु प्रतिबिम्ब ले, गाओ सुन्दर गीत ।
'यमुना तट पर कान्ह ने, की गोपी से प्रीत' ॥३६॥

अलंकार से हीन भी, कितने सुन्दर गीत ।
कृत्रिमता से शून्य हैं, सहज विभा को जीत ॥३७॥

इन गीतों के सोम में, हुई धरा तल्लीन ।
पर्वत की वादी झुकीं, जल से निकली मीन ॥३८॥

गीतों की चल सरित में, अनगिन उठीं हिलोर ।
बाल-वृद्ध सब गा रहे, गीतों को निशि-भोर ॥३९॥

धीरे-धीरे उठ रही, गीतकार की तान ।
अब उसने बिरछे छुए, अब नभ का शुभ थान ॥४०॥

## काव्य-प्रभाव

कवि की कविता का श्रवण, देता नव उल्लास ।
श्रोता को दे चेतना, भरता सहज प्रकाश ॥४१॥

मानव को कविता-सुधा, मिली बहुत ही कान्त ।
जिसके सहज प्रभाव से, हो जाता मन शान्त ॥४२॥

कविता मानव को सदा, देती सुख की गन्ध ।
काव्य-रसिक भौंरे सभी, हो जाते मधु अन्ध ॥४३॥

इतने सुख-विह्वल अरे, कैसे ही ओ मीत ?
क्या फिर सुनकर आ रहे, कवि का सुन्दर गीत ॥४४॥

कवि ! तुम्हारे गीत में, छिपी हुई रस-बेलि ।
जीवन मुग्ध बना रही, मन करता शुभ केलि ॥४५॥

## काव्य-पात्र

'भ्रमरगीत' के मूल में, सगुण भक्ति का भाव ।
उद्धव के मन पर हुआ, जिसका अमिट प्रभाव ॥४६॥

'भ्रमरगीत' की गोपियाँ, चेतन हैं उद्बुद्ध ।
उनमें मन का राग है, तपस-पूत औ' शुद्ध ॥४७॥

नभ से माधव उतर रहे, लेकर प्रेम पुनीत ।
निर्मल छवि को आँक कर, गाओ रसमय गीत ॥४८॥

उद्धव ! तुम इस ज्ञान को, रखो प्रान्त के छोर ।
ब्रज के कण-कण में निहित, शुद्ध प्रेम की डोर ॥४९॥

उर्मिल के संताप का, करो तनिक अनुमान ।
स्वाति-बिन्दु की आस में, अटके केवल प्रान ॥५०॥

## काव्य-उपकरण

वह लक्ष्मण की प्रेयसी, लिए हृदय में साध ।
प्रिय के पथ को हेरती, लेकर प्रेम अगाध ॥५१॥

नवरस के संचार से, काव्य-कला की कान्ति ।
विविध गुणों को प्राप्त कर, हर लेती जन-भ्रान्ति ॥५२॥

कविता में रस की सरित, रखती सतत प्रवाह ।
रस के कारण ही अरे, हर लेती वह दाह ॥५३॥

कविता में जन-भावना, पाती सहज विकास ।
उसमें कवि-चिन्तन निहित, जनता का मृदु हास ॥५४॥

काव्य-कला में कल्पना, मनहर है छवि-मूल ।
जग की पीड़ा को सकल, श्रोता जाता भूल ॥५५॥

कविता में संगीत का, होता सहज प्रवेश ।
श्रोता को रस लीन कर, हर लेता दुःख शेष ॥५६॥

कोमल कान्त पदावली, सहज मधुरता-युक्त ।
कवि की कविता हो रही, कटुता से चिर मुक्त ॥५७॥

कवि की वाणी में सहज, शोभा के हैं तार ।
पद-पद पर भूषण छटा, देती नव-छवि ढार ॥५८॥

# उपक्रम

काव्य अथवा साहित्य से हमारा तात्पर्य उस रचना से है जो मानव-हित के भावों से ओत-प्रोत हो। यद्यपि यह सत्य है कि प्रयत्न करने पर भी काव्य को उसकी विविध भावमयी छवि के कारण किसी एक परिभाषा के बन्धन में आबद्ध नहीं किया जा सकता, तथापि इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उसे जन-कल्याण की भावना से पृथक् रूप में देखना असम्भव है। वस्तुत: कविता का प्रारम्भ ही जन-मंगल की पृष्ठभूमि में हुआ था। भाषा के उद्भव-काल की परिस्थितियों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि प्रारम्भ में व्यक्ति अव्यक्त तथा अर्धव्यक्त ध्वनि-संकेतों के आधार पर सांसारिक कार्यों में भाग लेता था और शनैः शनैः आवश्यकता होने पर जब उसने सुविधा के लिए भाषा का दृढ़ आधार ग्रहण किया तब अन्तत: यही भाषा मानव-भावनाओं को कविता के रूप में अभिव्यक्त करने वाली प्रमुख माध्यम बनी। व्यक्ति को भाषा की आवश्यकता का तीव्रतम अनुभव उसी समय हुआ होगा जब उसने संक्षिप्त पारिवारिक जीवन व्यतीत करने की अवस्था का त्याग कर अपने अन्य बन्धुओं के सहयोग से समाज की स्थापना की होगी। समाज-संस्थापन का यह कार्य निश्चय ही उसकी आत्म-विकास की इच्छा पर निर्भरित रहा होगा और इस संगठन की स्थापना के उपरान्त अपने को उन्नत करने की अभिलाषा से प्रेरित होकर उसने अन्य साधनों के साथ-साथ कालान्तर में कविता का भी प्रणयन किया होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार में कविता की सर्वप्रथम

रचना आत्म-विकास और समाज-विकास के सिद्धान्तों को पृष्ठाधार में रखकर ही की गई होगी। अतः कविता का मानव-हित से सम्बन्ध सहज-सिद्ध है और इस उद्देश्य से शून्य रचना को काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में समाविष्ट करना पूर्णतः अनुचित है।

कविता के आविर्भाव-काल की परिस्थितियों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में काव्यानुशीलन का विशेष महत्व है। इस विषय में यह स्मरणीय है कि यहाँ काव्यानुशीलन से हमारा तात्पर्य काव्य के समीक्षण से न हो कर सर्व-साधारण द्वारा काव्यानन्द प्राप्त करने से है। वस्तुतः मानव की थकित चेतना को विश्राम प्रदान करने का सर्वोत्कृष्ट साधन काव्य-रस की प्राप्ति ही है। काव्य-सृजन स्पष्टतः प्रतिभा का विषय है और कवि अपनी सहज प्रतिभा के आधार पर अचेतन तत्वों में भी चेतन के दर्शन कर सर्वत्र मंगल-प्रसार में प्रयत्नशील रहता है। यही कारण है कि कवि-प्रतिभा से रहित प्राणी भी उस प्रतिभा से समन्वित काव्य-रचना का अध्ययन करने के लिए लालायित देखे जाते हैं। तथापि किसी-किसी स्थान पर कवि की रचनात्मक शक्ति इतनी गूढ़ हो जाती है कि साधारण बुद्धि वाले पाठक के लिए उसे हृदयंगम करना प्रायः कठिन हो जाता है। इसी कठिनाई को लक्षित कर वर्तमान युग में कुछ व्यक्तियों द्वारा काव्य के विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया और अन्य व्यक्तियों को उनके परिश्रम से लाभ उठाने का परामर्श प्रदान किया गया। काव्य-समीक्षा के मूल में स्पष्टतः मानव की इसी आवश्यकता की स्थिति है। यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन युग में भी काव्य-रचना के नियमों का निर्धारण कर शास्त्रीय आलोचना की पद्धति को प्रारम्भ किया गया था, किन्तु यह प्रणाली शनैः शनैः अपनी सीमाओं में आबद्ध होकर इतनी गूढ़ता को प्राप्त हो गई कि साधारण काव्य-रसिक के लिए उसे विश्लेषित रूप में उपस्थित करना अनिवार्य हो गया। कुछ भाषाओं के साहित्य में काव्य की व्यावहारिक आलोचना को मध्य युग

के उत्तर पक्ष में ही स्थान प्राप्त हो गया था, किन्तु हिन्दी-भाषा में व्यावहारिक आलोचना का उदय प्रायः इसी युग की देन है और भारतेन्दु युग से पूर्व हमें उसकी कोई विशेष व्यवस्थित काव्य-परम्परा प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि काव्य के रचनात्मक पक्ष की भाँति उसकी आलोचना के पक्ष का भी अनन्य महत्व है। इनमें से प्रथम के द्वारा जहाँ व्यक्ति को मौलिक भाव-सामग्री प्राप्त होती है वहाँ द्वितीय के द्वारा उसे इस सामग्री का व्यवस्थित और तुलनात्मक अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त होती है। इस प्रकार यह निश्चित है कि साहित्य के विकास और पाठक की सुविधा, दोनों ही की दृष्टि से साहित्य के इन रूपों का सम्यक् विकास वांछनीय है। इन दोनों का सम्बन्ध स्पष्टतः अन्योन्याश्रित है और इनमें से किसी एक के प्रति भी उपेक्षा प्रदर्शित करने का अवसर नहीं है। यही कारण है कि वर्तमान युग से पूर्व जहाँ हिन्दी में काव्य-रचनाओं का बाहुल्य रहा है, वहाँ आधुनिक युग में काव्य की व्यावहारिक आलोचना के अभाव की पूर्ति करने के लिए कविगण प्राचीन और नवीन काव्य की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा कर सन्तुलन-कार्य कर रहे हैं। इस युग ने आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल, डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे प्रसिद्ध आलोचकों के अतिरिक्त शताधिक अन्य आलोचक भी प्रस्तुत किये हैं और इन सभी के काव्यालोचन-कार्य से हिन्दी के पाठकों ने लाभ उठाया है।

मेरी 'काव्यानुशीलन' शीर्षक प्रस्तुत कृति भी व्यावहारिक आलोचना-पद्धति से सम्बद्ध है। इसमें हिन्दी-काव्य को गति प्रदान करने वाले प्रमुख कवियों के काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। इस दृष्टि से इसमें प्राचीन युग के कवि चन्दबरदाई से लेकर नवीन युग के सभी प्रमुख कवियों के काव्य की आलोचना करने का प्रयत्न किया गया है। प्रायः इस संग्रह में समाविष्ट कवियों की विशिष्ट रचनाओं के प्रमुख पक्षों की ही चर्चा की गई है, किन्तु किसी कवि की किसी भी संगृहीत रचना का

अभाव होने पर उसके काव्य के विशिष्ट पक्षों के विषय में भी विचार प्रकट किए गए हैं। इससे पूर्व अपनी नवीनतम प्रकाशित 'हिन्दी-कवियों की काव्य-भावना' तथा 'काव्य-समीक्षा' नामक कृतियों में भी मैंने इसी प्रणाली का आश्रय लिया है।

'काव्यानुशीलन' में संगृहीत निबन्धों में कवियों के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा नहीं की गई है, किन्तु आलोचना करते समय उनकी जीवन-परिस्थितियों को दृष्टिपथ में अवश्य रखा गया है। इस कृति में किसी भी कवि की काव्य-प्रतिभा का समग्रतः मूल्यांकन नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि इन निबन्धों की रचना सन् १९५१ से लेकर सन् १९५६ तक समय-समय पर की गई थी और इस कारण किसी भी कवि के काव्य का एकरूपतामय अध्ययन उपस्थित करने की उसमें प्रारम्भ से ही अधिक सम्भावनाएँ नहीं थीं, तथापि मैंने प्रत्येक कवि के काव्य के किसी न किसी प्रमुख पक्ष को ही लिया है और उसका सांगोपांग विवेचन उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार इसमें अधिकांशतः उद्धरण उपस्थित करने की अपेक्षा प्रवृत्ति-चर्चा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

'काव्यानुशीलन' की सूचिका का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि इसके निबन्धों का संग्रह करते समय हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा गया है। इनकी रचना करते समय मैंने जिन काव्य-ग्रन्थों से सहायता ली है उन सभी के रचयिताओं के प्रति मैं विशेष आभार प्रदर्शित करता हूँ, क्योंकि इन निबन्धों के आधार-स्तम्भ वे ही हैं।

देशबन्धु कॉलिज,
दिनांक २४/३/५६

—सुरेशचन्द्र गुप्त

: १ :

# कविता का स्वरूप

मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण कविता को अनादि काल से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है और प्रत्येक देश में काव्य-स्रष्टा और काव्य-पाठक क्रमशः उसे विविध रीतियों से अलंकृत करने और उसके स्वरूप को अनेक रूपों में हृदयंगम करने की ओर प्रयत्नशील रहे हैं। उसके महत्व का बोध भारतीय काव्य-शास्त्र की इसी परम्परा से हो जाता है कि वहाँ 'काव्य' और 'साहित्य' में किसी मौलिक भेद की स्थिति ही नहीं मानी गई है और दोनों को एक ही अर्थ का बोध कराने वाले अर्थात् पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण किया गया है। वहाँ पद्यात्मक कृतियों के लिए 'कविता' शब्द का पृथक् से प्रयोग हुआ है, किन्तु वर्तमान युग में 'काव्य' और 'कविता', दोनों ही शब्द 'पद्य-कृति' के अर्थ में रूढ़ हो गये हैं।

किसी भी उत्कृष्ट काव्य-रचना का अध्ययन करने पर यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि कविता का उद्देश्य अपने रस-ग्राहक को आनन्द की अनुभूति कराना है। भिन्न-भिन्न समय पर विद्वानों ने कविता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न परिभाषायें उपस्थित की हैं, किन्तु कविता सदैव एक ऐसी सहज चिक्कन शिला के रूप में परिवर्तित हो कर रह गई है जिस पर परिभाषा जैसी ठोस वस्तु भी ठहर नहीं पाती। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' कह

कर काव्य को रस से अनिवार्यतः युक्त माना है; 'रस गंगाधर' के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' कहकर कविता में रमणीय अर्थ की व्याप्ति को आवश्यक माना है और काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने कविता में गुणों और अलंकारों के यथा स्थान ग्रहण और दोषों के त्याग को आवश्यक माना है। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कविता सरस, रमणीय अर्थ के भावन में सक्षम, कला-सम्पन्न और दोष-विहीन होनी चाहिए।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी कविता के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की उक्तियाँ उपस्थित की हैं। इस दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकृत किया है,[1] वर्डस्वर्थ ने कविता को शान्ति के अवसर पर स्मृति में लाई गई विविध भावनाओं का प्रवाह माना है,[2] कॉलरिज ने कविता में शब्द-विधान की चारुता पर बल दिया है, मिल्टन ने कविता में प्रत्यक्षता एवं रागात्मकता की स्थिति को आवश्यक माना है तथा जॉनसन ने कविता में छन्द निर्वाह की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी कविता को भाव-गरिमा एवं कला-वैभव से सम्पन्न रखने का प्रतिपादन किया गया है।

वर्तमान युग में हिन्दी के अनेक विद्वानों ने भी कविता को लक्षण-बद्ध करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्नलिखित परिभाषा द्रष्टव्य है :—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी

1. Poetry at bottom is a criticism of life.

—Mathew Arnold

2. Poetry is the Spontaneous over-flow of powerful feelings. It takes its origin from emotions collected in tranquility.

—Wordsworth

मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

इसी प्रकार पंडित महाबीरप्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्यामसुन्दरदास और सुश्री महादेवी वर्मा आदि ने भी कविता के भिन्न-भिन्न लक्षण निर्धारित किये हैं। हिन्दी के कवियों ने भी समय-समय पर कविता के स्वरूप के विषय में अपनी सम्मतियाँ उपस्थित की हैं। इस दृष्टि से रीति काल में आचार्य कवि केशवदास ने कविता में अलंकार-प्रयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहा था :—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस कवित्त।
भूषन बिना न राजई, कविता बनिता मित्त ॥

—(कविप्रिया)

इसके विपरीत आधुनिक काल के कवियों मे श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्य में अलंकार प्रयोग की सप्रयासता को अवांछनीय माना है और कविता के उद्गम के विषय में निम्नलिखित पंक्तियों की रचना की है:—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान ॥

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कविता के विषय में कोई सर्वानुमोदित लक्षण उपस्थित कर सकना लगभग असम्भव है, तथापि सुविधा के लिए हम उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर कविता का निम्नलिखित लक्षण उपस्थित कर सकते हैं :—

"कविता कवि की वह साधना है, जिसमें प्रकृति और जीवन के सत्य की स्वच्छ, सरस, और संगीतमय अभिव्यक्ति रहती है। हृदय-तत्व पर

आधारित होने के कारण वह अन्तःवृत्तियों का परिष्कार कर आत्मा का उन्नयन करते हुए मानव-मन में आनन्द का संचार करती है।"

कविता के भाव-सौन्दर्य के उपयुक्त रक्षण के लिए उसमें छन्द-विषयक नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। सामान्यतः कविता को पिंगल-शास्त्र में वर्णित छन्द-योजना सम्बन्धी नियमों पर आवृत रहना चाहिए, किन्तु यदि कविता छन्द-मुक्त हो तब उसमें संगीत का निर्वाह अवश्य होना चाहिए। इसका कारण यह है कि संगीत को गेय कविताओं में एक शिल्प-साधन के रूप में ग्रहण किया जाता है।

## कविता में जीवन की व्याख्या

कविता का स्वरूप रसात्मक होता है और यही कारण है कि जब वह मानव-जीवन के किसी विशिष्ट चित्र को उपस्थित करती है तब रस-समन्विति के फलस्वरूप उसके माध्यम से नीरस और शुष्क जीवन को भी सरस रूप में उपस्थित किया जाता है। वस्तुतः कविता जीवन की गहराई में पैठ कर उसे अधिक से अधिक आकर्षक रूप में उपस्थित करने का विधान करती है। मानव-जीवन अनुभव-पूरित होता है और अनुभूति का स्पष्टीकरण ही कविता का मूल तत्व है। कवि जीवन की विविध अनुभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करने के उपरान्त ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है और अन्ततः उसकी कृतियों में मानव-व्यवहार के विविध रूपों की व्याख्या का ही सन्निहन होता है।

अतः यह बोध्य है कि कविता में जीवन की समष्टि नितान्त आवश्यक है। जिस कविता में जीवन के प्रति उपेक्षा का प्रदर्शन रहता है वह अनिवार्यतः अयथार्थ हो जाती है, क्योंकि उसका अध्ययन करते समय पाठक उसमें प्रतिपादित विषय-तत्व से साधारणीकृत सम्बन्ध की स्थापना करने में पूर्णतः असमर्थ रहता है। वस्तुतः कविता और जीवन के सम्बन्ध को परस्पर अन्योन्याश्रित कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस जीवन-गति

में कविता में प्राप्त होने वाले रस और सौन्दर्य का अभाव रहता है वह अन्ततः शुष्क होकर यन्त्रवत् रूप धारण कर लेती है और इसी प्रकार जो कविता जीवन की व्याख्या से रहित होती है, उसकी स्थिति भी महत्व-शून्य हो जाती है ।

इस समय कविता और कला के विषय में यह सिद्धान्त उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा है कि उनकी रचना जीवन-विकास में सहायता प्रदान करने के लिए होनी चाहिए अथवा उन्हें कला-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए उपस्थित किया जाना चाहिए। कुछ विद्वान् कविता की रचना को केवल काव्य-कला के विकास की दृष्टि से आवश्यक मानते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण अधिकांश में पाश्चात्य है । भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कविता में जीवन की व्याख्या नितान्त अपेक्षित है और जो कविता जीवन की वास्तविकता को जितनी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त करती है उसमें कला का उतना ही सहज विकास सम्भव होता है ।

## कविता का सत्य

कविता में सामान्य लौकिक सत्य से भिन्न एक विशिष्ट अलौकिक सत्य की स्थिति रहती है । इस सत्य का आश्रय लेने पर कवि प्रकृति के जड़ पदार्थों में भी जीवन के स्पन्दन का अनुभव करने लगता है । इसका कारण यह है कि कविता की रचना मानव-भावनाओं के अनुसार होती है और कवि शनैः-शनैः मानवीय प्रवृत्तियों को प्राकृतिक शोभा में क्रियाशील होते हुए देखने लगता है । कविता का सत्य चिरन्तन अर्थात् चिरकालिक होता है । सद् आधार पर आश्रित होने के कारण उसका किसी भी परिस्थिति में नाश नहीं होता । तथापि इस सत्य के संयोजन के लिए यह आवश्यक है कि कवि अपनी रचनाओं में एक ओर तो इतिहास के स्वीकृत तथ्यों का विरोध न करे और दूसरी ओर असम्भव बातों का वर्णन न करे। इस प्रकार की सत्याधारित काव्य-रचनाओं में युगीन परिस्थितियों का

सम्पूर्ण आलेख रहता है और उनसे पाठक को निरन्तर प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। इसी को लक्ष्य में रखकर मैंने अपनी एक कविता में लिखा है:—

जब युग के स्वर मिट जायेंगे,
जन-पग की ध्वनि मर जायेगी।
कवि की वाणी सहज मुखर हो,
तब मन में नव मधु लायेगी॥

## कविता और लोक-हित

कविता में लोकहित के समावेश के प्रश्न पर विचार करते समय हम सामान्यतः लोकहित को सत्-तत्व के समानार्थी शब्द के रूप में लेते हैं। प्रत्येक कवि की सत् और असत् के विषय में अपनी विशिष्ट मान्यतायें होती हैं और उसके लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह उन्हें लोक-पक्ष के अनुसार ही उपस्थित करे। पश्चिमी काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि वहाँ लोक-हित के इस प्रश्न को अधिक महत्व नहीं प्रदान किया गया है, किन्तु भारत में लोक मंगल की साधना को कविता के लिए आवश्यक माना गया है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी के अग्रणी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी व्यावहारिक आलोचना में लोक-हित के समावेश को ही काव्य की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है और अपने 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध-संकलन के प्रथम भाग के 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' शीर्षक निबन्ध में अपने एतद्विषयक विचारों को लिपिबद्ध भी कर दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि-कोण के अनुसार कविता में शिव-तत्व अथवा लोक-हित से सम्बद्ध तत्वों का समावेश अभीप्सित है, किन्तु यह नियम सर्वथा आवश्यक नहीं है। वस्तुतः सत्य, शिव और सुन्दर से समन्वित कविता ही लोकोतर आनन्द का विधान करने में समर्थ हो पाती है, किन्तु परिस्थिति-परिवर्तन से प्रायः काव्य के वर्ण्य में इनमें से किसी न किसी तत्व का पूर्ण अथवा अर्द्ध लोप हो ही जाता है।

: २ :

# चारण कवियों का दीप्त ओज

भारतवर्ष एक संस्कृति-सम्पन्न और वीर देश है। परम्परा के अनुसार यहाँ के कवियों ने इन दोनों ही भावनाओं को सदैव आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। संस्कृति की दृष्टि से राजस्थान का नाम अधिक विख्यात है। हमारे चारण कवि भी मुख्य रुप से इसी राजस्थान प्रदेश के निवासी रहे हैं और उनका समय प्राप्त सूत्रों के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है।

चारण कवियों के साहित्य का मूल विषय शौर्य का आख्यान ही है। अपने युग के वीरों को प्रोत्साहित कर देश-रक्षा के लिए कटि-बद्ध करना ही उनका मुख्य कार्य था। इसके लिए उन्होंने गद्य की अपेक्षा पद्य का आश्रय ग्रहण किया था। इस प्रकार वे अपनी कविता को राजसभा अथवा जन-साधारण के बीच गा कर कायर से कायर व्यक्ति में भी नवीन प्राणों का संचार कर देते थे।

चारण कवियों की इस शृंखला में हमारे सामने सबसे पहले दलपति विजय का नाम आता है। इन्होंने राजा खुम्माण द्वितीय (संवत् ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन करते हुए अपने 'खुमान-रासो' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस काव्य में वीर रस का अत्यन्त सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। खेद का विषय है कि इसकी कोई भी स्वीकृत प्रति आज हमें प्राप्त

नहीं है। इसके अभाव में इस पुस्तक के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण के साथ हम कुछ भी नहीं कह सकते ।

दलपति विजय के बाद नरपति नाल्ह का नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। उनका समय अनुमान से संवत् १२१० अथवा १२२० के आस-पास है। उन्होंने वीर गीतों के रूप में 'बीसल देव रासो' नामक एक सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें वीर रस की अपेक्षा शृंगार रस को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इतना होने पर भी इसमें अनेक उत्साहमय स्थल प्राप्त होते हैं। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय के कवि वीर रस की ओर धीरे-धीरे एक क्रमिक गति से बढ़ रहे थे।

चारण-युग के सर्वश्रेष्ठ कवि चन्दबरदाई हैं। उनका 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान रखता है। इसमें महाराज पृथ्वीराज के शौर्य का अत्यन्त व्यापक रीति से वर्णन किया गया है। इसको देखने पर एक बात सबसे अधिक स्पष्ट हो जाती है कि उस समय स्त्रियों को लेकर भी युद्ध होने लगे थे। इस प्रकार के युद्धों का मूल उद्देश्य वासना से प्रभावित होने के कारण कभी भी उतना महान् नहीं होता था। इतना होने पर भी उस युग के कवि उनका समर्थन करते थे। इसका कारण यही है कि राज्याश्रित होने के कारण उनके पास इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं था। चन्दबरदाई ने भी अपने काव्य में इस परम्परा को स्वीकार किया है, किन्तु संतोष का विषय है कि अपने अन्य साथियों की भाँति उन्होंने इस ओर अधिक ध्यान कभी नहीं दिया।

चन्दबरदाई ने अपने काव्य में वीर रस का प्रमुख रूप से अंकन किया है। उनका यह काव्य अपने आप में इतना सुन्दर है कि बाद के कवियों ने स्वयं उन्हीं के नाम से अनेक अंशों को इसमें जोड़ दिया। ये कवि इतने कुशल न थे और यही कारण है कि 'पृथ्वीराज रासो' के कुछ प्रसंग अत्यन्त शिथिल हो गये हैं। फिर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि चन्द एक सशक्त

कवि थे और विषय पर उनका पूर्ण अधिकार था। उदाहरण के रूप में पृथ्वीराज और शाहबुद्दीन के युद्ध का ओजपूर्ण वर्णन देखिए:—

गिरद्दं उड़ी भान अंधार रैनं।
गई सूधि, सुज्झे नहीं मज्झि नैनं॥
सिरं नाय कम्मान प्रथिराजराजं।
पकरियै साह जिमि कुल्लिग बाजं॥
लै चल्यो सिताबी करी फारि फौजं।
परे मीर सै पंच तहँ खेत चौजं॥
रजं पुत्तं पंचास जुज्झे अमोरं।
बजे जीत के नद्द नीसान घोरं॥

चन्दबरदाई की भाँति ही कवि भट्ट केदार ने भी 'जयचन्द प्रकाश' नामक महाकाव्य की रचना की। वह महाराज जयचन्द के राजकवि थे और उनका समय सम्वत् १२२४ से १२४३ तक है। उन्होंने अपने समय की सभी प्रचलित वर्णन-प्रणालियों को ग्रहण किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से उनका काव्य अत्यन्त उत्तम बन पड़ा है, किन्तु भावों की दृष्टि से उनका झुकाव स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता की ओर अधिक है।

चारण कवियों में जगनिक का नाम न लेकर हम बड़ा भारी अपराध करेंगे। उनका 'आल्हा खण्ड' सर्व श्रेष्ठ वीरगीतात्मक काव्य है। आज अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ कहीं भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु इसके गीत जनता के कण्ठ-हार बन गये हैं। उत्साह से भरपूर होने के कारण ये इतने अधिक व्यापक हो गये हैं कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में इनकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। आगे हम जगनिक का वह सन्देश उद्धृत करेंगे जो ओज की पूर्ण गति लिये हुए है और जिसका युवकों ने सदैव स्वागत किया है:—

बारह बरस लै कूकर जियें,
औ तेरह बरस लै जिएँ स्यार।

बरिस अठारह छत्री जियें,
आगे जीवन को धिक्कार ॥

चारण कवियों की यह परम्परा चौदहवीं शताब्दी के अन्त में आकर कुछ क्षीण पड़ गई है। इसका कारण यह है कि इस समय तक देश के सब प्रतापी नरेश पराजित हो चुके थे और जनता भक्ति की ओर उन्मुख हो गई थी। फिर भी स्फुट रूप से वीर रस की कविता की रचना होती रही और सत्रहवीं शताब्दी में जाकर चारण कवियों ने फिर से स्थान ग्रहण कर लिया। इन बाद के कवियों में भी अनेक महत्वपूर्ण हुए, किन्तु हम केवल बाँकीदास और सूर्यमल्ल की ही चर्चा करेंगे।

बाँकीदास के दोहे सम्पूर्ण चारण-काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है। इनमें कवि ने शौर्य को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और इसका कारण केवल यही है कि वह अपने वर्ण्य विषय का अनुभव प्राप्त करने से कभी जी नहीं चुराते थे। वह युद्ध-भूमि में जाकर वीरों के उत्साह को स्वयं अपनी आँखों से देखते थे और काव्य द्वारा अपने पक्ष के सैनिकों को उत्तेजना प्रदान करने के साथ-साथ शस्त्रों से वैरी का संहार भी करते थे। इसी कारण वह इतनी ललकार के साथ कह सके है:—

सिंघा देस विदेस सम,
सिंघा किसा उतन्न।
सिंघ जिका बन संचरै,
सो सिंघारा बन्न ॥

सूर्यमल्ल अभी हाल की उन्नीसवीं शताब्दी के चारण कवि हैं। उनका 'वीर-सतसई' नामक काव्य उनकी असाधारण मेधा का स्वयं ही प्रमाण उपस्थित करता है। इसमें उन्होंने दोहों के द्वारा वीरता से सम्बन्धित अनेक चित्रों की अवतारणा की है। वास्तव में चारणों की पंक्ति में उनका

स्थान सबसे आगे है। कला और भाव का इतना सुन्दर सामंजस्य कोई भी चारण कवि नहीं कर सका है। बाँकीदास में भी यह बात इतनी पुष्ट न हो पाई है। उनके काव्य-सौष्ठव का ज्ञान कराने के लिए हम एक बहुत ही सुन्दर छन्द उद्धृत करते हैं जो भाव की दृष्टि से किसी भी वेद-मंत्र से कम नहीं है :—

> इला न देणी आपणी, हालरियाँ हुलराय।
> पूत सिखावै पालणैं, मरण बड़ाई माय॥

अर्थात् "झूला झुलाती हुई, गीतों के साथ, माता पुत्र को पालने में यह सिखला रही है कि अपनी पृथ्वी पर किसी अन्य को अधिकार न करने देना चाहिए और सदैव युद्ध-क्षेत्र में ही प्राण छोड़ने चाहिएँ।"

इस प्रकार हमने देखा कि वीर रस की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने में चारण कवियों ने विशेष योग प्रदान किया है। उनकी आत्मा में सदैव एक महान् स्फूर्ति रही है और इसी के फलस्वरूप उन्होंने अपनी ज्योति को क्षीण होने पर भी कभी बुझने नहीं दिया है। उनका यह प्रयास निरन्तर एक निश्चित और समान गति से होता रहा है। आत्म गौरव की यह भावना सर्वथा प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। हमें विश्वास है कि राजस्थान के वर्तमान चारण कवि जन-जागृति के साथ सहयोग करते हुए और भी सबल साहित्य का सृजन करेंगे।

: ३ :

# पृथ्वीराजरासो : परिचयात्मक अध्ययन

सिद्ध-कवियों की आध्यात्मिक वाणी तथा योग-विषयक उक्तियों से प्रारम्भ होने पर भी हिन्दी-काव्य का प्रथम व्यापक दर्शन उसके वीरगाथा-काव्य में ही उपलब्ध होता है। इस युग के वीर-काव्यों की प्रधान संज्ञा 'रासो', 'रासू' अथवा 'रासा' है। ये शब्द मात्रा-भेद होने पर भी तात्पर्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रखते, किन्तु इनकी व्युत्पत्ति के विषय में प्राप्त मतों में पर्याप्त अन्तर है। इस विषय में प्रमुखतः फ्रेंच विद्वान् गार्सी द तासी, डा० दशरथ शर्मा और आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के मत प्राप्त होते हैं। रासो-प्रेमियों ने इनमें से प्रायः शुक्ल जी के मत को ही माननीय ठहराया है तथापि परिचय के लिए हम यहाँ उपर्युक्त तीनों ही विद्वानों की धारणाओं का उल्लेख करेंगे।

श्री गार्सी द तासी के अनुसार 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसू' शब्द से हुई है, किन्तु यह धारणा इस कारण अमान्य है कि प्राप्त रासो-ग्रन्थों में से अधिकांश में राजसूय यज्ञ—जिसके प्रति 'राजसू' शब्द का सहज संकेत है—का वर्णन ही नहीं किया गया है। डा० दशरथ शर्मा के अनुसार 'रासो' शब्द का उद्गम 'श्री मद्भागवत' और 'हरिवंश पुराण' में उल्लिखित 'रास' (नृत्य-विशेष) शब्द से हुआ है। इस प्रकार प्रारम्भ में वह 'रासो' की स्थिति दृश्य रूप में मानते हैं, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ये रास श्रव्य रूप में भी आयोजित किये जाने लगे थे। इस

विषय में 'अपभ्रंश काव्य-त्रयी' की जिनपालकृत टीका का निम्नलिखित अवतरण दृष्टव्य है:—

चर्च्चरी रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल ।
वृत्ति प्रवृर्ति नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः ॥

इस शताब्दी में 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', 'श्रेनिकरास' और 'रेवंत गिरि रास' आदि अनेक वीररसात्मक ओजपूर्ण रास-ग्रन्थों की रचना की गई। इन ग्रन्थों में 'रासो' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ चौदहवीं शताब्दी के तृतीय चरण में लिखित 'वस्तुपाल-तेजपाल-रास' का निम्नलिखित छन्द देखिए:—

वस्तुपाल तेजिग तणउ अम्हे बोलिस रासो ।
भरतक्षेत्र धुरि गुजरात अनहिलपुर वासो ॥

उपर्युक्त विवेचन से 'रास' और 'रासो' के पारस्परिक सम्बन्ध का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि इसी मध्य युग में अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध काव्य 'सन्देश रासक' की रचना की गई जिसके आधार पर 'रासक' शब्द को 'रासो' शब्द के पूर्व रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उसे 'रसायन' शब्द से उद्भूत माना है। उनकी धारणा कविवर नरपति नाल्ह द्वारा 'रसायन' शब्द को अपने 'बीसलदेवरासो' में अनेक स्थानों पर व्यवहृत करने पर आधृत है। कविवर नाल्ह ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः 'रस' तथा 'काव्य' के अर्थ में किया है। यथा:—

(१) नाल्ह रसायण आरम्भइ

(१) नल्ह कवीसर रसिय बखान ।

'रासो' को 'रसायन' शब्द से ही उद्भूत मानने का एक अन्य कारण

यह भी है कि जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में कथित विभिन्न रसायनों के सेवन मे शरीर पुष्टि को प्राप्त होता है उमी प्रकार विशिष्ट ओजपूर्ण उक्तियों मे युक्त रासो-ग्रन्थों के अध्ययन और मनन से अध्येता के व्यक्तित्व और अन्ततः राष्ट्र के अन्तराल में स्फूर्ति का संचरित होना पर्याप्त सम्भव है। इम प्रकार 'रसायन' शब्द के शाब्दिक अर्थ और रासो-ग्रन्थों के भाव-तत्व में निश्चय ही अद्भुत साम्य है।

'रासो' के विषय में उपर्युक्त कथन से हमारा तात्पर्य यही प्रतिपादित करना है कि हिन्दी काव्य के वीरगाथा युग में प्रणीत अधिकांश काव्य 'रासो' के नाम से अभिहित किये जाते हैं और उनमें एक विशिष्ट परम्परा के अनुमार वीर रस का काव्यमय वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों में 'खुमान रामो', 'बीसलदेवरामो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनमें महाकवि चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' को ही युग के प्रतिनिधि ग्रन्थ का गौरव प्राप्त है। हिन्दी-भाषा के आदि कवि चन्द का यह ग्रन्थ हिन्दी में प्रबन्धात्मक काव्य-रचना का प्रवर्तन करने के कारण हिन्दी-साहित्य की परम्परा में एक पृथक् स्थान रखता है। यद्यपि यह सत्य है कि अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं में अनेक प्रबन्ध काव्य हैं, किन्तु हिन्दी में यह अपने प्रकार की प्रथम कृति है। वास्तव में हिन्दी-भाषा के सर्वप्रथम साहित्यिक स्वरूप का स्थापन इमी पुस्तक से होता है। इससे पूर्व भाषा का रचनात्मक स्वरूप स्फुट होने के कारण इतना स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण नहीं था। खेद है कि अनेक कारणों से 'रासो' के वर्तमान स्वरूप में प्रक्षिप्त अंशों का बहुत समावेश हो गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपना मत इस प्रकार दिया है:—

"अकबर के राजत्व-काल में महाराणा अमरसिंह ने 'रासो' के बिखरे हुए छन्दों को एकत्र किया था। बहुत से राजवंशों को अपनी कुल-प्रतिष्ठा

बढ़ाने का यह अच्छा अवसर मिला। इसी से कहते हैं, इसमें अन्धाधुन्ध बाहरी सामग्री आ मिली है।"

महाराज पृथ्वीराज कविवर चन्दवरदाई को अपना मित्र, मंत्री, सखा और हितैषी मानकर उनके प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण तथा आदर-सम्मिश्रित व्यवहार करते थे। यही कारण है कि कविवर चन्द ने अपने 'पृथ्वीराज रासो' में अन्य अनेक वीररसात्मक परिस्थिति-चित्रों का समावेश करने पर भी अपने काव्य के चरित्र-नायक महान् योद्धा वीर-शिरोमणि महाराज पृथ्वीराज के व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न प्रसंगों का सरल, सजीव और प्रवाहपूर्ण भाषा में उल्लेख किया है। वस्तुतः अपने काव्य-नायक के निकट रहने के कारण ही वह उनके द्वारा किये गये विभिन्न युद्धों का कवित्वपूर्ण एवं भावात्मक अंकन कर सके हैं। इस कृति में रस-योजना का चरित्र-चित्रण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और कवि ने अति-रंजित उक्तियों के होने पर भी इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का सराहनीय परिचय दिया है।

'पृथ्वीराज रासो' में महाराज पृथ्वीराज के अतिरिक्त उनके सामन्तों के शौर्य का भी अंकन किया गया है। इसके समानान्तर ही कवि ने पृथ्वी-राज के प्रतिद्वन्द्वियों के वीरत्व का भी उन्मुक्त चित्रण किया है। इस स्थल पर हमें चन्दवरदाई के उदार दृष्टिकोण के उत्कृष्ट दर्शन होते हैं। परिस्थितियों के अनुकूल ही उस युग के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का तो वर्णन किया है, किन्तु उनके प्रतिपक्षियों की उत्साह-वृत्ति का उल्लेख उन्होंने कहीं भी नहीं किया और यदि कहीं किया भी है तो वहाँ उनकी दृष्टि पूर्वाग्रहों से युक्त रही है और भावाभिव्यक्ति की परिधि अधिकाधिक संकुचित रही है। कविवर चन्दबरदाई ने अपने काव्य द्वारा इस विषय में एक अपवाद की स्थापना की है। उदाहरणार्थ इस काव्य के 'पद्मावती समय' में शाहबुद्दीन गौरी की सेना के सामर्थ्य का कवि ने निम्नलिखित स्वस्थ और निरवग्राहिक अंकन किया है :—

सुनि गज्जनै आवाज, चढ़यो साहाबदीन बर।
षुरांसान सुलतान कास काबुलिय मीर धर ॥
जंग जुरन जालिम जुझार, भुज सार भार भुअ।
धर धमंकि भजि सेस, गगन रबि लुप्पि, रैन हुअ ॥
उलटि प्रवाह मनौं सिंधुसर, क्कि राह अड्डो रहिय।
तिहि घरिय राज प्रथिराज सौं, चंद बचन इहि बिधि कहिय ॥

उपर्युक्त अनुच्छेद से यह स्पष्ट है कि आलोच्य कृति में वीर रस को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। यद्यपि इसके अनेक अध्यायों में शृंगार रस का भी स्थान-स्थान पर प्रचुर चित्रण मिलता है, किन्तु तत्कालीन परम्परा के अनुसार उसे प्रायः वीर रस को उत्तेजना प्रदान करने के लिए ही स्थान प्राप्त हुआ है। वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक जीवन में रति-भाव, वीर-भाव का प्रमुख सहकारी भाव था। इसी कारण साहित्य-क्षेत्र में भी शृंगार रस को वीर रस के प्रमुख पोषक रस के रूप में ग्रहण किया गया। इसी प्रकार रौद्र, भयानक तथा वीभत्स नामक रसों की योजना भी वीर रस के सहकारी रसों के रूप में की गई है। कवि ने इन रसों से सूक्ष्म तथा स्थूल, दोनों रूपों में सहायता लेते हुए अपनी विलक्षण वर्णन-प्रतिभा के आधार पर अनेक प्रभावशाली शौर्य-चित्र अंकित किये हैं। वास्तव में उन्होंने युद्ध-भूमि के अधिकांश दृश्यों का स्वानुभूति के आधार पर सफल चित्रण किया है।

वीर रसपूर्ण प्रसंगों के समावेश की भाँति ही कविवर चन्दबरदाई ने स्वाभाविकता के रक्षण के लिए रसानुकूल ओजमयी भाषा का प्रयोग किया है। प्रस्तुत कृति की कथा का विकास चन्दबरदाई और उसकी पत्नी के सम्वादों के माध्यम से हुआ है। अतः इसमें कवि-कल्पना और उक्ति-कौशल के ऐसे रमणीय प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनमें भाषा का रूप स्निग्धता से युक्त रहा है। प्रक्षेप-मिश्रण के कारण इस काव्य में भाषा के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं और उनमें से चन्दबरदाई द्वारा प्रयुक्त मूल

भाषा को जान सकना एक विवादास्पद प्रश्न बनकर रह गया है। तथापि सामान्यतः हम यह कह सकते हैं कि इस कृति में पिंगल-मिश्रित राजस्थानी भाषा का प्रयोग हुआ है। इन दोनों भाषाओं की शब्दावली के अतिरिक्त इसमें 'अम्बर डम्बर' के 'उम्मर डमर' जैसे अपभ्रंश रूप भी प्राप्त होते हैं। राजस्थानी अपभ्रंश और ब्रजभाषा के प्रयोगों से समन्वित होने पर भी चन्दबरदाई की भाषा रसानुकूल रही है और भाव-परिवर्तन के साथ-साथ भाषा को भी परिवर्तित कर कवि ने अपनी भाषा-प्रयोग-विषयक दक्षता का विशेष परिचय दिया है।

हिन्दी का आदिम महाकाव्य होने के कारण 'पृथ्वीराज रासो' का स्वरूप काव्य-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान के आचार्यों के लिए अपना एक पृथक् महत्व रखता है। इसके अन्तस् में परम्परागत वर्णन-प्रणाली का ग्रहण होने पर भी अनेक मौलिक उपादानों का संग्रह हुआ है और साहित्य-कला की दृष्टि से वे सभी अनन्य महत्व के हैं। इसमें प्राप्त भाषा के रूप का विवेचन करने के लिए भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी यह विशेष अध्ययन की कृति है। इसी प्रकार तत्कालीन इतिहास को प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक व्यक्तियों के लिए भी इसका अपना एक पृथक् मूल्य है। इसमें उस युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को पूर्ण रूप से प्रतिफलित करने का प्रयास किया गया है। अतः यह प्रत्येक इतिहास-वेत्ता के लिए एक आकर्षण की वस्तु है तथा पर्याप्त शोध की सामग्री उपस्थित करती है, तथापि इसके ये तीनों रूप तभी सम्भव हैं, जब यह अपने मूल तथा शुद्ध रूप में उपलब्ध हो, अन्यथा इसके ये सभी गुण शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। प्रक्षिप्त सामग्री के समावेश के कारण इन तीनों ही धाराओं के लिए वह निर्मूल्य हो जाता है और उसके समग्र मूल गुण विनष्ट हो जाते हैं।

प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता महमहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'रासो' के मूल्य का विस्तृत विश्लेषण

किया है और अन्त में निराश होकर विविध तर्कों के द्वारा इसके विरोध में अपने मत की स्थापना की है। उन्होंने इसकी प्रामाणिकता का अत्यन्त प्रबल शब्दों में खण्डन किया है और अन्त में अपने गहन अध्यवसाय तथा अनुसन्धान के आधार पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि किसी प्रकार के मौलिक ज्ञान का अर्जन करने के लिए 'रासो' का परिशीलन व्यर्थ ही है, किन्तु हमारी मान्यता है कि ओझा जी का ऐसा मत 'रासो' में प्रक्षिप्त अंशों के बाहुल्य के कारण ही है। इस प्रकार के प्रकरणों का समावेश 'रासो' में निश्चित रूप से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर गया है और इनके आधार पर अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति उसके सम्बन्ध में किसी शुभ धारणा का संकलन नहीं कर सकता। यदि ओझा जी ने तना ही परिश्रम 'रासो' की स प्रक्षिप्त सामग्री के निराकरण में किया होता तब अवश्य ही वह सफल हुए होते और 'रासो' का मूल महत्व उनके सम्मुख स्पष्ट हुआ होता।

: ४ :

# चन्द और भूषण की रस-योजना

महाकवि चन्दबरदाई और भूषण क्रमशः वीरगाथा काल और रीति काल में शौर्य के महत्व का आख्यान करने वाले प्रतिनिधि कवि हैं। इस दिशा में इन दोनों की ही चेतना प्रायः समानान्तर आधार पर स्थापित रही है। भेद केवल इतना ही है कि इनमें से प्रथम जहाँ महाकाव्याकार हैं वहाँ दूसरे मुक्तक काव्यकार ! इस अन्तर के फलस्वरूप एक की दृष्टि शौर्य के अतिरिक्त जीवन की अन्य आवश्यकताओं पर भी रही है और दूसरे ने जीवन-क्रम में उत्साह को प्रमुख मानकर उसी के संचयन पर बल दिया है।

वीरगाथा काल के कवियों ने चन्द से प्रेरणा ग्रहण कर वीररसात्मक काव्य का पर्याप्त मात्रा में प्रणयन किया और प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि उनकी कृतियों में 'उत्साह' स्थायी भाव की अधिकाधिक व्याप्ति हो। इसके उपरान्त भक्तिकाल में वीर-काव्य की यह परम्परा प्रायः उपेक्षित ही रही। रीतिकाल में भूषण, लाल एवं सूदन ने अपनी ओजपूर्ण वाणी द्वारा प्रस्तुत धारा को पुनर्जीवन प्रदान किया और उसे विकासोन्मुख करने की उपयुक्त चेष्टा की। इन तीनों कवियों में भी कविवर भूषण का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है और उनकी कृतियों को हिन्दी के वीर-काव्य में एक विशेष स्थान प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी के वीर-काव्य का संरक्षण करने वाले व्यक्तियों में चन्द और भूषण का

स्थान सर्वोपरि है। इन दोनों ही कवियों ने शौर्य को काव्याधार के रूप में ग्रहण किया है और रति, शोक आदि अन्य भावों का गौण रूप में संग्रहण किया है। वीर रस की इस प्रेरणाप्रद चेतना का प्रवाह हमें दोनों ही कवियों के काव्य में समान रूप से मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि भूषण की अपेक्षा चन्द ने अपने काव्य में शृंगार आदि अन्य रसों का कहीं अधिक मात्रा में ग्रहण किया है और उनके कारण कतिपय स्थलों पर उनका ध्यान वीर रस पर उचित मात्रा में केन्द्रित न रह सका है, तथापि यह सत्य है कि परिमाण की दृष्टि से चन्द का काव्य भूषण के काव्य की अपेक्षा बहुत अधिक है और अन्य रसों से सम्बद्ध प्रकरणों को निकाल देने पर भी उनके अवशिष्ट छन्द भूषण के काव्य के समकक्ष रहकर वीर रस की दृष्टि से उनसे हीन नहीं ठहरते।

चन्द ने अपने काव्य का प्रणयन करते समय रस-तत्व पर सर्वाधिक ध्यान दिया है और यही कारण है कि हमें उनके काव्य में प्रायः प्रत्येक रस का सफल प्रयोग उपलब्ध होता है। उन्होंने अपने युग की आवश्यकता का अनुभव करते हुए वीर रस की प्राणमयी चेतना का विशिष्ट आधार ग्रहण किया था और अपने कार्य की विशालता द्वारा प्रत्येक प्रकार से यह प्रयास किया था कि तत्कालीन अन्य कवि भी उनका अनुकरण करते हुए आत्मा के शौर्य-प्रेरित उन्नयन में सहयोग प्रदान करें। 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन करने के उपरान्त उनकी यह दृष्टि हमारे समक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ के आविर्भाव-काल में देश में विग्रहात्मक परिस्थितियों का विशेष प्रावल्य था। चन्द ने युग-दशा के इस स्वरूप को हृदयंगम करते हुए अपने साहित्य से इसका पूर्ण सामंजस्य स्थापित रखा है।

भूषण की स्थिति चन्द से सर्वथा भिन्न थी। वह अपने युग के सबसे बड़े अपवाद थे और उन्होंने अपने युग की सामान्य मान्यताओं का परित्याग कर सर्वथा विभिन्न भावनाओं का प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में अथ से इति तक एक विशिष्ट मौलिक

चेतना संचरित रही है। जहाँ उनके अन्य सहयोगी कवियों ने प्रायः श्रृंगार रस की मधुर भावना को ही अपने काव्य में मूल स्थान प्रदान किया है, वहाँ उनकी मनश्चेतना ने युग की इस प्रचलित प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर शिवाजी और छत्रसाल जैसे वीर पुत्रों को अपने काव्य में मूर्धन्य पर अभिषिक्त कर उत्साह-भाव को पर्याप्त स्फुरण प्रदान किया है।

चन्द के काव्य में वीर रस का पूर्ण वैभव दृष्टिगत होता है। यद्यपि उनका मूल उद्देश्य इसी रस को अभिव्यक्ति प्रदान करना था तथापि उन्होंने अन्य रसों का भी गौण रूप में यथेष्ट ग्रहण किया है और इतने बृहत् काव्य-ग्रन्थ में इस प्रवृत्ति का आश्रय लेना कोई बहुत अधिक असमानता का विषय भी नहीं है। इन सभी गौण रसों में श्रृंगार रस को विशेष स्थान प्राप्त रहा है और यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि इस कृति में श्रृंगार रस का प्रतिफलन प्रायः वीर रस के समानान्तर ही हुआ है। वैसे उनके श्रृंगार रस के चित्र अधिकांश में इतने हृदयस्पर्शी और रम्य-मधुर बन पड़े हैं कि उनका अध्ययन करते समय हमें सहसा यह प्रतीत होने लगता है कि कवि का उद्देश्य श्रृंगाररसात्मक काव्य का सृजन करना ही रहा होगा, किन्तु जब हम उनके 'पृथ्वीराज रासो' का समग्र रूप में अध्ययन करते हैं तब हमारा यह भ्रम स्वतः निराकृत हो जाता है और हमारे समक्ष यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य में श्रृंगार रस की सम्पूर्ण चेतना वीर रस को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ही प्रयुक्त हुई है। आगे हम उनके काव्य से एक उत्कृष्ट श्रृंगार-चित्र उद्धृत करते हैं:—

अध अधर रत्त सुरंग। ससि वीय रंग तरंग।
उत्तंग रंग सुभाल। जनु फुलि कमुद्दिनी ताल॥
कै पक्क बिंब संभाल। सुक डसिय ग्रसिय न आल।
तिन मध्य दंतन कंत। जनु वज्र राजत पंत॥

× × ×

रस सरस कुच कहि चंद। उर उकिर आनंद कन्द ॥
ससि बदन मदन सु जोर। चित्त रहै चंहि चकोर ॥
कलिकादि कंज अनूप। उर उदित रवनिय रूप ॥
करि कलभ कुंभ प्रमानं। छवि स्याम रंग सुदांन ॥
—(इंछिनि ब्याह कथा)

भूषण ने अपने काव्य में चन्द की भाँति शृंगार रस का इतना अधिक और सुन्दर चित्रण नहीं किया है।

भूषण का मूल उद्देश्य यही था कि वह अपने काव्य में वीर रस का व्यापक आधार पर चित्रण करें। इतना होने पर भी उनके अनेक छन्दों ने इस लक्ष्य-सिद्धि में व्याघात उपस्थित किया है। वस्तुतः उन्होंने अपने काव्य में शिवाजी के शौर्य का स्वतन्त्र रूप में गान कर अपनी चेतना को शत्रु-वर्ग पर उनके व्यापक आतंक का वर्णन करने पर केन्द्रित रखा है। इस प्रकार उनकी भावनायें जहाँ एक ओर स्तुति-कथन की ओर प्रवृत्त रही हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें भयानक रस के अनुकूल परिस्थितियों का संचरण भी हो गया है। फिर भी सशक्त कवि होने के फलस्वरूप उन्होंने इस प्रकार के छन्दों में वीर रस के अनुकूल तत्वों का पर्याप्त मात्रा में संग्रहण कर लिया है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए:—

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवा जी गाजी,
उग्ग पर उग्ग नाचे रुंड मुंड फरके।
भूषन भनत बाजे जीत के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके ॥
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उद्भट,
तारे लगे फिरन सितारा गढ़ धर के।
बीजापुर बीरन के गोलकुण्डा धीरनि के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके ॥

चन्द ने भूषण की भाँति वीर रस को परोक्ष रूप में यह प्राथमिकता

प्रदान न कर उसे प्रत्यक्ष रूप में ही महत्व प्रदान किया है। उनके काव्य में वीर रस से इतर रसों का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु परिमाण और रसात्मकता, दोनों ही की दृष्टि से उनकी कृति में वीर रस ही मूर्धन्य पर प्रस्थित रहा है। वीर रस के मूल में सामान्यतः जिस गति और प्रवाह की अपेक्षा रहती है उसका संग्रहण करने में वह पूर्णतः सफल रहे हैं। वस्तुतः उक्त रस के वातावरण का निर्माण करते समय उन्होंने ओज और शौर्य का अत्यन्त उपयुक्त आधार पर संचय किया है और अपनी प्राणमयी रस-चेतना से समाविष्ट कर उसे अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया है। यथा:—

गिरद्दं उड़ी भाँन अँधार रैनं।
गई सूधि सुज्झे नहीं मज्झि नैनं॥
सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राजं।
पकरियै साह जिमि कुल्लिग बाजं॥
लै चल्यो सिताबी करी फारि फौजं।
परे मीर सै पंच तहँ षेत चौजं॥
रजं पुत्त पंचास जुज्झे अमोरं।
बजे जीत के नद्द नीसान घोरं॥

चन्द की भाँति भूषण ने भी अपने काव्य में रस का अत्यन्त व्यापक और सजीव रूप में संग्रहण किया है। इस प्रकार के छन्दों में उन्होंने केवल स्तुति-कथन की परम्परा का त्याग कर प्रायः वीर रस के उपयुक्त सभी उपादानों का सफल संयोजन किया है। काव्य-शास्त्र के निर्देशों के अनुसार वृत्ति तथा गुण में सामंजस्य का विधान कर उन्होंने अपने काव्य को और भी प्रभावशाली बना डाला है। यही कारण है कि उनकी कृतियों के कुछ अंश का अध्ययन करने से ही अध्येता के समक्ष वीर रस का वातावरण पूर्णतः साकार हो उठता है और हृदय में शनैः-शनैः एक विशिष्ट प्राणमयी चेतना का आविर्भाव होने लगता है। आगे हम उत्साह-भावना

से समन्वित उनका एक अत्यन्त स्पष्ट सजीव छन्द उद्धृत करते हैं :—

छूटत कमान और गोली तीर बानन के,
होत कठिनाई मुरचान हू की ओट में।
ताहि समय सिवराज हाँक मारि हल्ला कियो,
दाना बाँध परा हल्ला बीरबर जोर में॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति यहाँ लगी है जाकी भर झोर में।
ताव दै दै मूँछन कँगूरनि पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परे कोर में॥

महाकवि चन्दबरदाई ने अपने 'पृथ्वीराज रासो' का प्रणयन काव्य-रचना की प्रबन्ध-विधा के अन्तर्गत किया है। यही कारण है कि उनके प्रत्येक छन्द में पूर्वापर का निश्चित तादात्म्य रहा है और सम्पूर्ण काव्य में वीर रस के विभिन्न उपकरणों की नितान्त क्रमिक अवतारणा हुई है। भूषण ने अपने काव्य में मुक्तक विधा का आश्रय लेकर इस प्रकार की प्रबन्ध शृंखला का निर्वाह नहीं किया, किन्तु फिर भी उनका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र रीति से वीर रस की सृष्टि करने में समर्थ है। इसका कारण यही है कि उनके सभी छन्द अनिवार्यतः किसी एक नायक—शिवाजी अथवा छत्रसाल—से सम्बद्ध हैं और इसके फलस्वरूप मुक्तक होते हुए भी उनके काव्य में एक प्रकार का प्रबन्ध-सौष्ठव वर्तमान है।

अन्त में हमें यही कहना है कि इन दोनों ही कवियों को अपने लक्ष्य की सिद्धि में पर्याप्त सफलता मिली है और दोनों ने ही अपने-अपने उद्देश्य के अनुसार अत्यन्त सजीव और उपयुक्त आधार का प्रतिष्ठान किया है। यह सत्य है कि रस-प्रयोग की व्यापकता की दृष्टि से चन्द को भूषण की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु जहाँ हम उन दोनों के अभीष्ट रस-प्रयोग के दर्शन करते हैं, वहाँ वे दोनों ही समान हैं। वस्तुतः उनके काव्य में वीर रस का पूर्ण उद्रेक हुआ है और विषय से सम्बद्ध उनके सभी छन्द अध्येता की मनसा को एक विशिष्ट सजीव चेतना प्रदान करते हैं।

: ५ :

# कबीर-काव्य : एक अध्ययन

स्वतन्त्र पर्यवेक्षण तथा आत्म-निर्णय के तत्वों से युक्त होने के कारण महात्मा कबीर का काव्य हमारे सम्मुख एक गम्भीर तथा असाधारण हृदय का निसर्ग प्रतिमान उपस्थित करता है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-कालीन सन्त कवियों की परम्परा में उनका अपना एक पृथक् एवं विशिष्ट स्थान है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम तथा सोलहवीं शताब्दी के प्राथमिक त्रि-चरण में अपनी सहज काव्य-प्रतिभा एवं साहित्य-संस्कारों के आधार पर उन्होंने मानवता को जिस सत्य की प्रतीति कराई, वह उनकी गहन अनुभूति तथा चिरन्तन साधना से ही उद्भूत थी। पौराणिक प्रसिद्धियों तथा प्रचलित अन्ध विश्वासों से आवेष्टित मानवता को उन्होंने एक अवरोध-रहित तथा सहज-ग्राह्य पथ का दर्शन कराया और उसे मर्त्य लोक के सामान्य स्तर-बिन्दु से ऊपर उठाकर आत्मा को प्रणव-शक्ति के अनन्त रस-लोक में प्रस्थापित करने की युगान्तरकारी प्रेरणा का सम्बल प्रदान किया।

सन्त कबीर ने अपने काव्य का सृजन मानव-संस्कृति के शून्य आदर्शवाद तथा सृष्टि के विनाशपरक उपस्थान की पृष्ठभूमि में किया था। वह मूलतः कवि नहीं थे, किन्तु उसके अन्तस् में कवि की चेतना अवश्य थी। वस्तुतः ज्ञान के अधिकारी मानव को ह्रास के तन्तुओं से मुक्त कर उसके सीमित दृष्टिकोण को प्रगति के सर्वोन्मुख स्वरूप की ओर प्रेरित

करना ही उनका प्रमुख तथा अन्तिम लक्ष्य था और इसी उद्देश्य की सम्यक् पूर्ति के लिए उन्होंने एक मनीषी के अनुरूप काव्य के प्रसरणशील उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया था। इष्ट का एकाग्र चित्त से अनुशीलन करने के कारण उन्हें साहित्यिक तथा सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त सीमा तक सफलता की उपलब्धि हुई है।

कबीर भक्ति के सगुण पक्ष की अपेक्षा उसके निर्गुणात्मक आधार में अधिक विश्वास रखते थे। यद्यपि उनके काव्य के आदि अंशों में साकार उपासना के सिद्धान्तों का अनुमोदन भी परिलक्षित होता है, तथापि अपने कवि-जीवन के मध्यम काल में वह उनका निराकरण कर निर्गुण-भक्ति-भाव की ओर प्रवृत्त हो गये थे। अपनी तत्सम्बन्धी धारणाओं को प्रकट करते समय उन्होंने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक कहा है:—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

निर्गुण भक्ति के स्वरूप का उल्लेख करते समय महात्मा कबीर ने प्रायः दो प्रकार की शैलियों को ग्रहण किया है। एक ओर तो उन्होंने अपनी विचार-धारा को एक जन-कवि के अनुरूप सरल भाषा में व्यक्त किया है और दूसरी ओर हठयोग के साधकों की दुर्बोध शैली को ग्रहण किया है। वैसे आध्यात्मिक विचारों से परिपूर्ण होने के कारण उनके काव्य में शान्त रस की भी सर्वत्र व्याप्ति हुई है। माया के दुष्प्रभाव, सन्त-मत की विशिष्टता, जगत् की अनित्यता और रहस्यवाद की सार्थकता उनके काव्य के सामान्य वर्ण्य विषय हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम कबीर के काव्य में इन सभी तत्वों का अन्वेषण करने के साथ-साथ उनकी काव्य-कला पर भी संक्षेप में विचार करेंगे। वैसे कबीर की आध्यात्मिक विचार-धारा पर प्रकाश डालना ही हमारा अभीष्ट है और इसी कारण कलात्मक उपकरणों की चर्चा यहाँ अत्यन्त संक्षेप में की गई है।

( सृष्टि की क्षणिकता का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर कबीर ने अपनी तद्गत भावनाओं को शान्त रस के माध्यम से जिस रूप में अभिव्यक्त किया है, स्पष्टतः वह एक चिर-वांछित आदर्श से युक्त है।) इस प्रकार की परि-स्थितियों का अंकन करते समय कवि की शैली हमारे सम्मुख नितान्त मौलिक रूप में उपस्थित हुई है। यथा:—

वा दिनु की कछु सुधि कर मन मां,
जा दिनु लै चलु लै चलु होई, ता दिनु संग चलै नहीं कोई ।।
तात मात सुत नारी रोई, माटी के संग दिया समोई ।
सो माटी काटेगी तन मां ।।

रस की भाँति कबीर के काव्य में प्रायः अलंकारों का भी अत्यन्त सुन्दर और सुष्ठु संगठन हुआ है। प्रकृत आधार पर संघटित होने के कारण उनके रूपकों और अन्योक्तियों में एक विशेष छटा अन्तर्निहित है। दिव्य-शक्ति के सौन्दर्य के साक्षात् दर्शन के उपरान्त उन्होंने भावों को रूपक-योजना का आश्रय ले जिन भिन्न-भिन्न रीतियों द्वारा अभिव्यक्त किया है वे कहीं-कहीं उन्मादग्रस्त व्यक्ति के प्रलाप के समान प्रतीत होने पर भी अनुपम भाव-माधुर्य तथा गाम्भीर्य से युक्त हैं। उनकी अन्योक्तियाँ भी अनुभूति-मयी होने के कारण विशेष प्रभावशाली और करुणाभिव्यंजक बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ काल-चक्र को चक्की तथा सांसारिक जीवों को अन्न के कण मानकर प्रस्तुत की गई एक सुन्दर अन्योक्ति देखिए:—

चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आइकै, साबित गया न कोय ।।

अन्योक्तियों की भाँति ही उन्होंने अपनी सूक्तियों को भी अत्यन्त आकर्षक रूप में उपस्थित किया है। इनमें जीवन के व्यावहारिक सिद्धान्तों तथा नीति के उपदेशों का पूर्ण रम्य विधान दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार उनकी उलटबासियाँ भी बुद्धि के एक अपूर्व चमत्कार को व्यक्त

करती हैं, किन्तु कहीं-कहीं दार्शनिक विचारों के अनुकूल होने पर भी उनमें लोक एवं प्रकृति के विरुद्ध अत्यधिक अनभीप्सित वार्ताओं का समावेश हो गया है। इस प्रकार के प्रकरण सामान्य जन-व्यवहार के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण प्रायः उपेक्षित रहते हैं। यथा:—

जब लगि सिंह रहै बन माहिं, तब लगि वह बन फूलै नाहिं।
उलटा सियार सिंह को खाय, उकठा बन फूलै हरियाय॥

यहाँ बन से तन, सिंह से ममता एवं स्यार से ज्ञान का तात्पर्य है, किन्तु इन अर्थों की प्रतीति श्रम-साध्य होने के कारण निश्चय ही रुचि-बाह्य और संगति-शून्य है।

महात्मा कबीर के काव्य में अनुभूति और अन्तर्दर्शन की भावनाओं को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। रहस्यवाद की मूल भावना को स्पष्ट करने का उन्होंने सर्वत्र समान रूप से प्रयत्न किया है। वह एक जिज्ञासु की भाँति ब्रह्म के रहस्य का सन्धान करने को ही साधक और विचारक का सर्वप्रधान लक्ष्य मानते हैं। यही कारण है कि उनकी रहस्यवाद से सम्बन्धित विचार-धारा के अन्तराल में आत्मा की उज्ज्वलता एक ऐसे प्रौढ़ रूप में प्रस्फुटित हुई है कि उनके समक्ष समग्र परवर्ती कलाकारों ने भी आभार-प्रदर्शन किया है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उनके काव्य से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे हैं।

रहस्यवाद के प्राथमिक सिद्धान्तों के अनुसार साधक भौतिक वस्तुओं की निष्क्रियता का अनुभव कर आत्म-निरीक्षण द्वारा अन्तिम सत्य से तादात्म्य स्थापित कर शान्ति का अर्जन करता है। वेदान्त में भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। आचार्य शंकर के सच्चिदानन्द ब्रह्म और महात्मा बुद्ध के निर्वाण-तत्व में साम्य है। बौद्ध धर्म के प्रमुख ग्रन्थों में परमानन्द-प्राप्त स्थिति का भावात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने रहस्यवाद की

व्याख्या करते समय उसे धर्म के तत्व के रूप में स्वीकार किया है। महात्मा कबीर भी इन सब मान्यताओं से पूर्ण-रूपेण सहमत हैं और उनके काव्य में स्थान-स्थान पर इनका उन्मुक्त रूप से प्रयोग हुआ है।

महात्मा कबीर ने जीव और ब्रह्म के मध्य एक शाश्वत सम्बन्ध की स्थिति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार वस्तुतः ये दोनों तत्व एक हैं। केवल प्रकार-भेद से इनमें अन्तर की प्रतीति होती है। यही कारण है कि जिस समय उपासक के अन्तर में ईश-प्रेम का संचरण होता है, उस समय उसकी आत्मा साक्षात्कार की मृदु आकांक्षा लिये हुए वांछित मार्ग की ओर अग्रसर होती है और अन्त में अपनी साधना के बल पर परमात्म-तत्व के अभीप्सित दर्शन प्राप्त कर, उसी में लीन हो जाती है। 'तिनके' की अन्योक्ति से कवि ने इसी भावना को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनके से मिला, तिनका तिनके पास॥

संसार की क्षणिकता एवं नश्वरता से पीड़ित साधक जिस समय आत्म-तत्व का सूक्ष्म दर्शन प्राप्त कर लेता है, उस समय उसे एक मधुर और निर्मल भावना की प्रतीति होती है और उसी के प्रभाव से उसके सम्मुख ईश्वर का सम्पूर्ण सत्य प्रतिभासित हो उठता है। वह अपने आराध्य से अभिन्नत्व की स्थिति स्थापित कर लेता है और अपने व्यक्तित्व को क्रमशः उनके चरणों में समर्पित करने लगता है। उस समय उसकी शान्ति, प्रेम और सत्य से परिपूरित आत्मा अपने इस एकीकरण अथवा निर्वाण-सुख के अनुभव को व्यक्त करना चाहती है, परन्तु भावातिरेक के कारण वह इसमें अधिकांशतः असमर्थ ही रहती है। स्मृति के आधार पर वह अपनी अनुभूति को बारम्बार मानस में केन्द्रित करती है, किन्तु उसके स्पष्टीकरण के अवसर पर सर्वथा मूक रह जाती है। कबीर ने साधक की इस अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थिति का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

(१) आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछै बात ।
सो गूंगा गुड़ खाइकै, कहै कौन मुख स्वाद ॥

(२) कहु कबीर गूंगे गुड़ खाइया,
पूछे ते किआ कहीऐ ?

यही आत्मानुभूति रहस्यवाद में पद-पद पर प्रतिध्वनित होती है। गूंगा गुड़ खाता जाता है और प्रेम से अपनी मधुर स्मृति को विकीर्ण करता रहता है। सूफी कवि निजामी ने भी अपने काव्य में एक स्थान पर इन्हीं भावनाओं को व्यक्त किया है :—

बार गहे याफताम अफरोखता ।
चश्मे बद अज़ दीदने आँ दोखता ॥

अर्थात् "अब मैंने अपने अन्तर में जिस वस्तु के दर्शन किये, वह बहुत ही विलक्षण थी। उस अकथनीय शोभा का केवल अनुभव किया जा सकता है।"

उर्दू के प्रसिद्ध कवि उस्ताद जौक ने भी आत्मानुभूति के उपर्युक्त स्वरूप को अनिर्वचनीय ही माना है। वह कहते हैं :—

कुछ राज निहाँ दिल का अयाँ हो नहीं सकता ।
गूँगे का सा है ख्वाब—बयाँ हो नहीं सकता ॥

अर्थात् "मेरे चित्त का आन्तरिक रहस्य प्रकट नहीं हो सकता, वह तो गूँगे के स्वप्न के तुल्य है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।"

भ्रमणशील तथा सत्संग-प्रिय होने के कारण महात्मा कबीर को हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफीमत का पर्याप्त परिचय था। जिस प्रकार उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में इन दोनों मतानुयायियों के पारस्परिक वैमनस्य को मिटाकर उनके हृदयों में प्रेम-भाव का संचार करने का प्रयास किया था, उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी रहस्यवादी विचार-धारा में इन दोनों धर्मों का पूर्ण समन्वय उपस्थित किया है।

अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा-परमात्मा की अभिन्न स्थिति में भिन्नत्व का संचार करने वाली वस्तु माया है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इसके पंच शस्त्र हैं। कबीर ने भी इसके इस रूप की पर्याप्त भर्त्सना की है :—

कबिरा माया बेसवा, दोनों की एक जात।
आवत को आदर करै, जात न पूछै बात।।

माया के इस प्रभाव को नष्ट करने के लिए ज्ञानार्जन की अपेक्षा होती है। चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले जलपूर्ण घट के बाह्य आकार का विनाश होने पर अन्तःव्यापी और बाह्य स्थित जल मिलकर एकाकार हो जाता है। ज्ञान के द्वारा माया के अस्तित्व को विलुप्त कर अन्तस्थ और बाह्यस्थ ब्रह्म का भी ठीक इसी प्रकार संयोग कराया जा सकता है। कबीर ने इस भाव को निम्नलिखित रीति से अभिव्यक्त किया है:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत सुनहु गियानी।।

पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लेटो (Plato) और प्लोटिनस (Plotinus) ने भी इस दृश्य जगत् को मायात्मक मानकर ठीक इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की है।

अद्वैतवाद के अनन्तर कबीर पर सूफी मत का भी उतना ही गहन प्रभाव है। सूफियों के अनुसार आत्मा और परमात्मा के संयोग में कोई बाधक तत्व नहीं है, परन्तु मार्ग के असंख्य व्यवधानों के निवारणार्थ गुरु द्वारा पथ-निर्देशन अत्यन्त आवश्यक है। कबीर ने भी गुरु की इस महत्ता को स्थान-स्थान पर स्वीकृत किया है:—

गुरु कुम्हार, सिप कुम्भ है, गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।

सूफियों की द्वितीय प्रधान विशेषता उनके द्वारा किये गये प्रेम के

निस्वार्थ चित्रण में अन्तर्हित है। वे ईश्वर की पत्नी-रूप में कल्पना कर उनके प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने प्रेम की प्रतीति कराते हैं, परन्तु कबीर ने इस विषय में भारतीय पद्धति को ही ग्रहण किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों में भगवान् के पितृत्व एवं मातृत्व को अत्यन्त प्राचीन मान्यता प्राप्त है :—

त्वंहि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

महात्मा कबीर ने उक्त प्रवृत्ति की मर्यादा में आस्था प्रकट करते हुए उसे ही माध्यम रूप में मान्यता प्रदान की है। यथाः—

(१) बाप रामराया अब हूँ सरन तिहारी।

(२) हरि जननि मैं बालिक तेरा।

यद्यपि उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सन्त कबीर ने भारतीय उपासना-पद्धति को स्वीकार किया है, तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सूफी साधना-पद्धति उनके काव्य में पूर्णतः उपेक्षित रही है। वस्तुतः उन्होंने सूफी साधना के प्रेम-तत्व को भी अनेक स्थलों पर वर्णित किया है। इस दृष्टि से उनके काव्य का अध्ययन करने से पूर्व फारसी से किसी प्रेम-साधनामयी उक्ति को तुलना के लिए उपस्थित करना अधिक समीचीन होगा। उदाहरणार्थ ईरान के प्रसिद्ध सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी की निम्नलिखित उक्ति देखिएः—

हस्त सिलाहे दिलो दीं, सूरते आँ तर्के यकीं।
चश्मे फरोमालो नबीं, सूरते दिल सूरते दिल॥

अर्थात् "उस प्रियतम का मुख ही इस हृदय-कक्ष की शोभा है। तनिक आँखें मलकर देख कि तेरे हृदय में ही हृदय कितना चमत्कृत हो रहा है।"

कबीर ने भी प्रेम की इस स्थिति का अत्यन्त भावपरक वर्णन किया है:

नयनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय,
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लीन रिझाय ॥

सुख के पश्चात् दुःख और संयोग के अनन्तर वियोग का प्रादुर्भाव अत्यन्त स्वाभाविक रूप में होता है। प्रेम की दिशा आमूलतः परिवर्तित होने लगती है। कबीर आकुल हो चीत्कार कर उठते हैं :—

या तन जारौं, मसि करौं, लिखौं राम को नाँव।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाव ॥

साधना के इतने कठिन मार्ग का अनुसरण करने के उपरान्त अन्त में उपासक को फल की प्राप्ति भी होती है। ब्रह्म के साक्षात्कार से वह ब्रह्म-रूप ही हो जाता है। भारतीय साधकों ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है:—

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।

उपनिषद् के 'तत्वमसि' अथवा 'सोऽहं' भाव को स्पष्ट करते हुए कबीर कहते हैं:—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारि फेरि बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥

अंग्रेज्-कवि डिगबी मैकवर्थ डौल्बन (Digby Mackworth Dolben) ने भी अपनी एक कविता में प्रकारान्तर से इसी भावना को इस प्रकार उपस्थित किया है:—

I asked for Thee—
And Thou didst come
To take me home
Within Thy Heart to be.

अर्थात् "मैंने प्रभु का आह्वान किया और वह मुझे अपने हृदय में प्रतिष्ठित करने के हेतु आकर अपने निवास की ओर ले गये।"

'गीतांजलि' के विश्व-विश्रुत कवि रवीन्द्र ने भी अपने भविष्य को ठीक इसी प्रकार ईश्वर की वीणा में ध्वनित होते हुए सुना है। अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए वह कहते हैं :—

आमार अनागत आमार अनाहूत,
तोमार वीणा तारे बाजिछे ता' रा ।
जानि हे जानि ताओ हय नि'हारा ॥

अन्त में हमें यही कहना है कि सत्य और प्रतिभा के उपयुक्त सम्मिश्रण द्वारा कबीर ने अपने काव्य को कला की परिभाषा के अनुरूप ही प्रणीत किया है। आडम्बर-शून्य एवं भावुकतापूर्ण तथ्यों का प्रतिष्ठान ही कला का वास्तविक स्वरूप है और इस दृष्टि से कबीर सच्चे कलाकार हैं।

: ६ :

# जायसी के काव्य का भाव-पक्ष

जायसी ने अपने काव्य की रचना भक्ति काल की निर्गुण भक्ति-शाखा के प्रेममार्गी पक्ष के अन्तर्गत की है। उनकी रचनाओं में 'पद्मावत' को शीर्ष स्थान प्राप्त है और उनकी प्रतिभा का मूल्यांकन करते समय 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' की अपेक्षा इसी काव्य का आश्रय लेना होगा। जायसी ने अपने अन्य सहयोगी कवियों की भाँति लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतिपत्ति की है। इस प्रकार 'पद्मावत' में लोक-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन का समन्वित रूप प्राप्त होता है। मुसलमान कवि होने के कारण जायसी को भारतीय साहित्य-शास्त्र का उचित ज्ञान न था। यही कारण है कि उन्होंने कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष के रम्य प्रतिपादन पर अधिक ध्यान दिया है। उनके काव्य की विभिन्न भाव-विषयक विशेषताओं का विश्लेषण इस प्रकार है:—

## रस-निरूपण

मानव-जीवन की विविधता के प्रतिपादन के लिए काव्य में रस की उचित समष्टि नितान्त आवश्यक होती है। प्रबन्ध काव्य में रस के समावेश के लिए अधिक अवकाश रहता है। जायसी ने 'पद्मावत' में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है और उसके अतिरिक्त वीर, शान्त, वात्सल्य, भयानक और वीभत्स आदि अन्य रसों को भी यथास्थान प्रयुक्त किया है। जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के

प्रेम को लेकर संयोग शृंगार का सुन्दर आयोजन किया है। उन्होंने 'पद्मावत' में प्रेम के स्थूल पक्ष की अपेक्षा उसके सूक्ष्म मानसिक पक्ष के वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने विवाह से पूर्व रत्नसेन और पद्मावती के पूर्व राग का कथन करने के उपरान्त विवाह के अनन्तर पद्मावती की भावनाओं का सहज विकास अंकित किया है। इस स्थान पर कवि ने सखी-विनोद आदि प्रेम के प्रारम्भिक पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है तथापि कहीं-कहीं फारसी-प्रभाव के कारण पद्मावती के हृदय में रत्नसेन के प्रति अवज्ञा के भाव को दिखाया गया है। वैसे जायसी ने सतीत्व की मर्यादा का निर्वाह करते हुए भारतीय प्रेम-प्रणाली का परिचय दिया है। पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम के अतिरिक्त जायसी ने व्यंजना द्वारा नागमती के प्रेम को भी प्रदर्शित किया है।

शृंगार रस के वियोग पक्ष की दृष्टि से जायसी ने विरह के निम्नलिखित तीन पक्ष रखे हैं :—

(१) रत्नसेन का पद्मावती के प्रति विरह-भाव ।

(२) पद्मावती का रत्नसेन के प्रति विरह-भाव ।

(३) नागमती का रत्नसेन के प्रति विरह-भाव ।

इन तीनों पक्षों में से कवि ने नागमती की वियोगावस्था का अधिक मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने विरह-चित्रण के लिए निम्नलिखित दो प्रणालियों को अपनाया है:—

**(१) स्वाभाविक चित्रण :—**

इस प्रणाली के अन्तर्गत जायसी ने नागमती के विरह का सहज संवेदनमय चित्रण किया है। उन्होंने मानवीय भावनाओं का प्राकृतिक उपादानों से सहज सम्बन्ध स्थापित करते हुए नागमती के विरह में प्रकृति को दुःखी दिखाया है और इस प्रकार प्रकृति की संवेदना का भी मार्मिक चित्रण किया है।

नागमती की विरह-दशा का निम्नलिखित पंक्तियों से सहज ही अनुमान किया जा सकता है :—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव ॥

**(२) ऊहात्मक चित्रण :—**

फारसी के प्रभाव के कारण जायसी ने ऊहात्मक प्रणाली को भी अपनाया है। इस प्रभाव के कारण जहाँ उन्होंने अनेक रम्य मधुर कल्पनायें उपस्थित की हैं वहाँ उनके काव्य में अनेक अस्वाभाविकताओं का भी समावेश हो गया है।

शृंगार रस के अतिरिक्त जायसी ने जीवन की अनेकरूपता को स्पष्ट करने के लिए शोक, उत्साह और क्रोध आदि अन्य भावों को भी स्थान दिया है। वीर रस का वर्णन करते हुए उन्होंने गोरा-बादल के चरित्र की नितान्त सफल सृष्टि की है। आध्यात्मिक काव्य होने के कारण इसमें शान्त रस को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। कथा के अन्तिम भाग में रत्नसेन की मृत्यु होने पर कवि ने करुण रस का भी सुन्दर आयोजन किया है। इसी प्रकार अन्य रसों का भी 'पद्मावत' में यथास्थान समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ पद्मावती की सौन्दर्य-चर्चा को सुनने के उपरान्त राजा रत्नसेन के चित्तौड़ गढ़ से प्रस्थान करने पर उसके परिवार के सदस्यों की निम्नलिखित करुण स्थिति देखिए:—

रोवहिं नागमती रनिवासू ।
केइ तुम्ह कंत दीन्ह बनवासू ?
अब को हमहिं करिहि भोगिनी ।
हमहूँ साथ होब जोगिनी ॥
की हम्ह लावहु अपने साथा ।
की अब मारि चलहु एहि हाथा ॥

तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता ।
जहँवाँ राम तहाँ सँग सीता ।।
जौ लहि जिउ सँग छाँड़ न काया ।
करिहौं सेव, पखरिहौं पाया ।।
भलेहि पद्मिनी रूप अनूपा ।
हम तें कोइ न आगरि रूपा ।।
× × ×
रोवत माय, न बहुरत बारा ।
रतन चला घर भा अँधियारा ।।
बार मोर जो राजहि राता ।
सो लै चला, सुआ परबता ।।
--(पद्मावत, जोगी-खण्ड, छन्द-संख्या ६–८)

**अध्यात्म-तत्व**

'पद्मावत' में लौकिक प्रेम के चित्रण द्वारा अलौकिक प्रेम के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से इसमें पात्रों की स्थिति प्रतीकात्मक रही है और मुख्य पात्रों में रत्नसेन को साधक तथा पद्मावती को ईश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। जायसी ने आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट करने में पात्रों के रूपकात्मक संयोजन में अनेक असफलतायें दिखायी है तथापि अनेक स्थानों पर 'पद्मावत' में अध्यात्म-तत्व की सरल-स्पष्ट व्याख्या हुई है।

जायसी ने भावनात्मक रहस्यवाद के चित्रण द्वारा 'पद्मावत' में प्रेम-तत्व को मूल स्थान प्रदान किया है। उन्होंने हठयोग-विषयक वर्णनों में रहस्यवाद के साधनात्मक स्वरूप का भी परिचय दिया है और 'राजा-गढ़-छेंका खण्ड' में अपनी इस विषय की भावनाओं को स्पष्ट किया है तथापि 'पद्मावत' में भावनात्मक रहस्यवाद ही मुख्य रहा है। भक्तिकाल के सूफी कवियों में जायसी ने ही रहस्यवाद के इस स्वरूप का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन किया है और रत्नसेन की साधना का भावनात्मक आख्यान किया है ।

## ऐतिहासिकता

'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का अधिक समावेश हुआ है और उसके उत्तरार्द्ध में इतिहास को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस काव्य में चित्तौड़ गढ़ के चिर-प्रसिद्ध कथानक को सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। जायसी ने अपने अन्य सहयोगी प्रेमगाथा-काव्यकारों की अपेक्षा इतिहास की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने 'पद्मावत' में घटनाओं और पात्रों को यथासंभव ऐतिहासिक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है, तथापि उन्होंने निम्नलिखित कारणों से 'पद्मावत' में कल्पना का भी समावेश किया है :—

(१) कथानक में गीत आयोजन के लिए।

(२) नायक के व्यक्तित्व का उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए।

(३) रस-सृष्टि के लिए।

(४) रूपक-निर्वाह के लिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' में इतिहास का आधार ग्रहण करने पर भी जायसी ने कल्पना और इतिहास का मधुर मिश्रण उपस्थित किया है।

## चरित्र-चित्रण

यद्यपि 'पद्मावत' घटना-प्रधान काव्य है और इसमें पात्रों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व नहीं दिया गया है, तथापि जायसी ने अपने विभिन्न पात्रों की स्थिति का मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। उन्होंने पात्रों की हृदयगत भावनाओं को सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, अलाउद्दीन, गोरा, बादल और राघव चेतन आदि विभिन्न मनोवृत्तियों के पात्रों का सफल संयोजन किया है।

'जायसी' ने पद्मावत के पात्रों की शारीरिक और मानसिक स्थितियों का उपयुक्त चित्रण किया है। रूपक-संयोजन के कारण इस कृति में चरित्र-

चित्रण का कार्य कठिन था और यही कारण है कि प्रायः सफल होने पर भी रूपक के आग्रह के कारण कवि को कहीं-कहीं असफलता भी मिली है। उदाहरणार्थ जायसी ने नागमती को सांसारिक धन्धों का प्रतीक माना है, किन्तु उसका चरित्र वास्तव में वैसा नहीं है और उसके हृदय में सर्वत्र दया, स्नेह और ममता आदि उच्चतर मानवीय गुणों की समष्टि रही है।

## प्रकृति-चित्रण

सूफी दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब निहित रहता है। अतः 'पद्मावत' में प्रकृति के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं। जायसी ने परम्परागत प्रणाली के अनुकूल प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त इस विषय में अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। उनके काव्य में प्रकृति-चित्रण के दो पक्ष रहे हैं:—

(१) **प्रकृति का यथातथ्य रूप में चित्रण**:—

इस प्रकार के चित्रों में जायसी ने प्रकृति का उसी रूप में वर्णन किया है जिस रूप में वह सामान्यतः दृष्टिगत होती है।

(२) **प्रकृति का सूक्ष्म सौंदर्य-चित्रण**:—

प्रकृति के इस पक्ष को निरूपित करने में जायसी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने प्राकृतिक उपकरणों में मानवीय भावनाओं का समावेश करते हुए प्रकृति को मानवीय स्थिति से प्रभावित होते हुए दिखलाया है। उदाहरणार्थ रत्नसेन के चित्तौड़ लौटने पर नागमती की वेदना के अन्त के साथ-साथ उसके दुःख से व्याकुल प्रकृति की वेदना का भी अन्त हो जाता है :—

पलुटी नागमती कै बारी,
सोने फूल फूलि फुलवारी।
जावत पंखि रहे सब दहे,
सबै पंखि बोले गहगहे॥

जायसी ने प्रेमगाथा-काव्य-धारा की विभिन्न विशेषताओं को 'पद्मावत' में समाविष्ट कर उसे अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि रूपक-निर्वाह के आग्रह के कारण 'पद्मावत' में कहीं-कहीं अस्वाभाविकतायें भी लक्षित होती हैं, तथापि प्रायः इसकी कथावस्तु का प्रभाव स्वाभाविक रहा है और कवि ने उसे इतिवृत्तात्मक रूप में उपस्थित करने पर भी रसात्मक रखा है।

: ७ :

# जायसी का रहस्यवाद

'रहस्यवाद' से हमारा तात्पर्य साधक की उस मनोवृत्ति से है, जिससे परिचालित होकर वह ईश्वरीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है और अन्त में उस रहस्य-प्राप्ति के उपरान्त परम आनन्द का अनुभव करता है। प्रवृत्ति-भेद के कारण रहस्यवाद के दो स्वरूप होते हैं:—

(१) **साधनात्मक रहस्यवाद :—**

इस प्रणाली के अन्तर्गत साधक ज्ञान-साधना द्वारा ईश्वरीय रहस्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

(२) **भावात्मक रहस्यवाद :—**

रहस्यवाद की इस प्रणाली का सम्बन्ध प्रेम-भावना से है और इसके अवलम्बन द्वारा साधक ज्ञान के स्थान पर प्रेम-भावना द्वारा ईश्वरीय रहस्य का परिचय प्राप्त करता है। जायसी के काव्य में मुख्य रूप से इसी भावात्मक रहस्यवाद की स्थिति रही है।

हिन्दी के आदि रहस्यवादी कवियों में कबीर के उपरान्त जायसी का ही नाम आता है। कबीर के रहस्यवाद में ज्ञान-साधना की स्थिति मुख्य रही है, किन्तु जायसी ने उसे कहीं-कहीं ग्रहण करने के अतिरिक्त प्रायः भावुक कवि के अनुरूप भावात्मक रहस्यवाद को ही ग्रहण किया है। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी में भावात्मक रहस्यवाद के प्रतिपादन की

परम्परा जायसी से पूर्व भी वर्तमान थी और प्रेमगाथा काव्य-परम्परा की 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रारम्भिक रचनाओं में उसके इसी स्वरूप की स्थिति रही है, तथापि इन काव्य-ग्रन्थों में रहस्यवाद की उतनी स्पष्ट व्याख्या नहीं हुई है जितनी जायसी के 'पद्मावत' में प्राप्त होती है।

जायसी ने अपने रहस्यवाद-विषयक काव्य में निर्गुण ब्रह्म की माधुर्य भावमूलक प्रेम-साधना का समावेश किया है। उनके काव्य में भावुकता का अत्यन्त विशद रूप में सन्निवेश हुआ है। उनके रहस्यवाद पर सूफियों की विचारधारा का व्यापक प्रभाव रहा है और उसका अनुकरण करते हुए उन्होंने एक ओर तो ईश्वर को प्रिय के रूप में ग्रहण करते हुए विविध सांसारिक तत्वों में उसकी छवि के दर्शन किये हैं और दूसरी ओर प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को शृंगार-सज्जा, प्रेमोत्कण्ठा और विरह-विकलता से युक्त दिखाकर उन्हें ईश्वर की ओर प्रवृत्त दिखाया है।

जायसी ने 'पद्मावत' में रहस्यवाद का निरूपण करते समय आध्यात्मिक रूपक का प्रश्रय ग्रहण किया है। उन्होंने लौकिक प्रेम का चित्रण करते हुए उसमें अलौकिक स्वरूप की अनुभूति करायी है और इस प्रकार रूपक के माध्यम से रहस्यानुभूति का वर्णन करते हुए साधना के फल-रूप में साधक रत्नसेन को शारीरिक और मानसिक, दोनों रूपों में उल्लास-मग्न दिखाया है। इसी प्रकार साधक की रहस्यानुभूति के उपरान्त उन्होंने साध्य पद्मावती के आन्तरिक उल्लास का भी चित्रण किया है। 'पद्मावत' में रूपक के इस स्वरूप की सर्वत्र स्थिति रही है, तथापि कहीं-कहीं कवि उसे अस्पष्टता के दोष से मुक्त न रख सका है।

जीव और साध्य के अभिन्न सम्बन्ध की स्थापना करते हुए जायसी ने ईश्वरीय ज्योति के सार्वत्रिक प्रसारण को लक्ष्य में रखकर साधक के अंत-र्जगत् और बहिर्जगत् को परस्पर रमणीय रूप में संबद्ध दिखाया है। उन्होंने

आत्मा के संयोग के लिए गुरु की सहायता से सभी बाधक तत्वों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से वह कहते हैं:—

धरती सरग मिले हुत दोऊ ।
केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ ॥

जायसी के रहस्यवाद का संयोजन करने वाले तत्वों में भावात्मक रहस्यवाद की दृष्टि से प्रेम-तत्व, सर्ववाद और सूफी-साधना-पद्धति के विभिन्न उपकरण उल्लेखनीय हैं। उनका पृथक्-पृथक् परिचय इस प्रकार है:—

## प्रेम-तत्व

जायसी ने अपनी रहस्यवादी विचार-धारा में सूफियों के प्रेम-तत्व का विस्तृत समावेश किया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रेम के संयोग और वियोग नामक दोनों ही पक्षों को अपनाया है:—

### (१) संयोग पक्ष

जायसी ने अपने रहस्यवाद में दाम्पत्य भाव के मधुर प्रतीक को आकर्षक रूप में ग्रहण किया है। उनका ईश्वरोन्मुख प्रेम सूफी-पद्धति पर आधारित रहा है और उसके अनुसार उन्होंने प्रेमी (आशिक) को ईश्वर (माशूक, प्रेमिका) के प्रेम में मग्न दिखाया है। इस दृष्टि से उन्होंने 'पद्मावत' में रत्नसेन को पद्मावती की प्राप्ति के लिए विकल दिखाया है।

भारतीय माधुर्य पद्धति में भी इस दाम्पत्य भाव की व्याप्ति रही है, परन्तु वहाँ जीव को विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित करते हुए उसे प्रियतम ईश्वर मे मिलने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील दिखाया जाता है। जायसी के पूर्ववर्ती कवि संत कबीर के रहस्यवाद में इसी भारतीय माधुर्य पद्धति के दर्शन होते हैं, किन्तु जायसी ने इसके विपरीत सूफी प्रेम-पद्धति के अनुकूल रत्नसेन (साधक) को पद्मावती (साध्य) के प्रति प्रेम-मग्न दिखाया है।

### (२) वियोग पक्ष

'पद्मावत' में रहस्यवाद का सर्वश्रेष्ठ निरूपण 'प्रेम-खण्ड' में हुआ है। जिस समय हीरामन शुक ने रत्नसेन को प्रेम-मार्ग की विभिन्न कठिनाइयों से परिचित कराया था, उस समय रत्नसेन की स्थिति का चित्रण करते हुए कवि ने उसे विरहमग्न रहस्यवादी साधक के रूप में उपस्थित किया है :—

सुनि सो बात राजामन जागा,
पलक न मार प्रेम चित्त लागा।
नैनन्ह ढरहिं मोति और मूँगा,
जस गुर खाइ रहा होई गूँगा॥

जायसी के अनुसार प्रकृति भी ईश्वर के विरह में लीन है और उसके समग्र तत्व उस ज्योति के साक्षात्कार के लिए विकल हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' में रहस्यवाद के प्रेम-तत्व को मूल रूप में ग्रहण करते हुए उसके दोनों पक्षों का मार्मिक वर्णन किया गया है।

### सर्ववाद

सूफियों ने सैद्धान्तिक रूप में भारतीय साधकों की भाँति ब्रह्म की सर्व-व्याप्त सत्ता को स्वीकार किया है। जायसी ने 'पद्मावत' में ईश्वर की सर्व-व्यापकता का सुन्दर वर्णन किया है और ईश्वरीय ज्योति को प्राकृतिक उपकरणों में नैसर्गिक रूप से प्रतिबिम्बित होते हुए दिखाया है। उनके अनुसार सृष्टि निरन्तर ईश्वरीय आलोक से आलोकित रहती है। उन्होंने ईश्वर के रहस्यमय स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रकृति से सुन्दर और मार्मिक दृश्य-संकेत उपस्थित किये हैं। इस दृष्टि से 'पद्मावती' के प्रति रत्नसेन की निम्नलिखित उक्ति विशेषतः दृष्टव्य है :—

अनु धनि ! तू निसिअर निसि माहाँ,
हौं दिनअर जेहि कै तू छाहाँ।
चाँदहि कहा जोति औ करा,
सुरुज के जोति चाँद निरमरा॥

## सूफी साधना-पद्धति

जायसी के रहस्यवाद में साधना की श्रेणियों का संबंध क्रमशः नफ्स (मन और चित्त) और अक्ल (बुद्धि) से स्थापित किया गया है। इसीलिए कवि ने साधक के ईश्वर-विषयक असीम अनुराग का वर्णन करते हुए उसके स्वरूप को सर्वत्र व्याप्त मानकर कहा है:—

तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पद्मिनी चीन्हा॥

हीरामन शुक से मिलने से पूर्व चित्तौर में रत्नसेन की अवस्था को इंद्रिय जगत् से सम्बद्ध व्यक्ति के रूप में उपस्थित करते हुए जायसी ने शुक से मिलने के उपरान्त उसे विश्व के प्रति उदासीन होकर पद्मावती (ईश्वर) के विरह में व्याकुल दिखाया है। इस स्थल पर कवि ने ईश-प्राप्ति के लिए गु द्वारा प्रदत्त ज्ञान को आवश्यक माना है और गुरु की सहायता से ही साध्य के रहस्य को स्पष्ट होने वाला कहा है। सिंहल पहुँचने पर रत्नसेन को स्थिर बुद्धि की प्राप्ति हो गई और अन्त में पद्मावती से मिलन होने पर उसे परम ज्योति के दर्शन प्राप्त हो गये। जायसी ने रत्नसेन की साधना के इस स्वरूप का आकर्षक वर्णन किया है।

साधक की साधना से सम्बद्ध उपर्युक्त अवस्थाओं को सूफी मत में नासूत (इन्द्रिय जगत्), मलकूत (चेतन जगत्), जबरूत (आनन्द जगत्) और लाहूत (मत जगत्) कहते हैं। लाहूत की अवस्था को प्राप्त करने के लिए सूफियों ने शरीयत (धर्म-विषयक कर्मकाण्ड), तरीकत (धर्म-सम्बन्धी उपासना), हकीकत (सत्य की प्राप्ति) और मारफत (सिद्धि की उपलब्धि) नामक साधनाओं को पूर्ण करने का विधान किया है। इस विषय में जायसी ने 'पद्मावत' में विशेष विस्तृत कथन न करने पर भी संकेत-रूप में इनकी चर्चा अवश्य की है। यथा:—

चारि बसेरो सौं चढ़ै।
सत सौं उतरे पार॥

जायसी ने भावात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त 'पद्मावत' में कहीं-कहीं साधनात्मक रहस्यवाद को भी ग्रहण किया है। इस दृष्टि से उन्होंने हठयोग और तंत्र-साधना से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उनका अपनी साधना-पद्धति में समावेश किया है। हठयोग के अनेक पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करके उन्होंने 'पद्मावत' के 'राजा-गढ़-छेंका खण्ड' में साधनात्मक रहस्यवाद के स्वरूप का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख किया है। इसी प्रभाव के कारण उन्होंने रत्नसेन को भी नाथ-पंथी योगी के रूप में चित्रित किया है।

जायसी ने अन्तर्दर्शन का प्रतिपादन करते हुए कबीर की भाँति ईश्वर को साधक के हृदय में ही समाविष्ट माना है। उनकी इस विचार-धारा पर भी रहस्यवाद की प्रणाली का प्रभाव लक्षित होता है। यथा:—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने अपने रहस्यवाद में सूफीमत और हठयोग का समन्वय उपस्थित किया है, तथापि योग की अनेक साधनाओं की चर्चा करने पर भी उन्होंने रहस्यवाद की प्रेम-प्रणाली को ही महत्व प्रदान किया है। हिन्दी की प्रेम-गाथा काव्य-परम्परा में भावात्मक रहस्यवाद का प्रतिपादन करनेवाले कवियों में उनका स्थान सर्वोपरि है।

: ८ :

# 'पद्मावत' में रूपक-तत्व

साहित्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'रूपक' शब्द के दो अर्थ हैं—एक ओर तो वह साधारणतः सम्पूर्ण दृश्य काव्य का वाची है और दूसरी ओर वह एक साम्यमलक अर्थालंकार के रूप में प्रतिष्ठित है। इन दोनों अर्थों से भिन्न वर्तमान दृष्टिकोण के अनुसार 'रूपक' शब्द को अंग्रेजी के (Allegory) शब्द का पर्याय माना गया है और इस दृष्टि से उसे 'कथा-रूपक' की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रायः रूपक-भावना से समाविष्ट काव्य से हमारा तात्पर्य उस रचना से है जिसमें किसी दो अर्थों को व्यंजित करने वाली कथा का समावेश हो। इस प्रकार की कथा में प्रस्तुत अर्थ पर किसी सिद्धान्त-विशेष पर आधारित अप्रस्तुत अर्थ का अभेद आरोप रहता है। इस प्रकार के अप्रस्तुत अर्थ में प्रायः अमूर्त अथवा सूक्ष्म भावनाओं की समष्टि रहती है।

जायसी की काव्य-कृतियों में 'पद्मावत' का अन्यतम स्थान है। इसमें कवि ने पूर्वार्द्ध भाग की रचना लोक-प्रचलित कथानक के आधार पर की है और उत्तरार्द्ध में इतिहास तथा कल्पना का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। कथा के इन दोनों ही भागों में अप्रस्तुत कथा के समावेश के कारण आध्यात्मिक रूपक की स्थिति रही है और 'पद्मावत' के प्रमुख पात्र ऐतिहासिक अस्तित्व रखने के साथ-साथ सांकेतिक अर्थ की सिद्धि में भी सहायक रहे हैं। इसमें पात्रों, घटनाओं तथा स्थानों को रूपकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

## पात्रों की रूपकात्मक स्थिति

'पद्मावत' के पात्रों को मानवीय और मानवेतर पात्रों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। मानवीय पात्रों में राजा रत्नसेन को जीवात्मा के प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया है और उनके हृदय में साध्य के प्रति अखण्ड अनुरक्ति की भावना का समावेश किया गया है। कथा की नायिका पद्मावती को ईश्वर की प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। कवि ने पद्मावती को संसार की सम्पूर्ण प्राकृतिक विभूति से समाविष्ट मानकर उसकी असीम प्रेममयी और सौन्दर्यशालिनी मूर्ति का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार अलौकिक छवि से युक्त पद्मावती-रूपी ईश्वर के विरह में सम्पूर्ण संसार व्यथामग्न है। यथा:—

जग बेधा तेहि अंग सुबासा।
भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त 'पद्मावत' में नागमती को सांसारिक कार्य-कलाप (दुनिया-धंधा) की प्रतीक कहा गया है। अलाउद्दीन को माया का प्रतीक माना गया है और राघव चेतन को शैतान का स्वरूप प्रदान किया गया है। अन्य मानवीय पात्रों में कवि ने पद्मावती के पुत्र कमलसिंह और नागमती के पुत्र नागसिंह के जन्म को रूपकात्मक अभिव्यक्ति से पृथक् रखते हुए उनका समावेश केवल कथा को सुखद बनाने के लिए किया है। देवपाल और उसकी दूती के पीछे भी किसी विशेष आध्यात्मिक प्रतीक की स्थिति नहीं है। उपर्युक्त पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति के विषय में कवि ने 'पद्मावत' के अन्त में निम्नलिखित वक्तव्य दिया है:—

तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा।
बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा॥

नागमती यह दुनिया धन्धा ।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत, सोइ सैतानू ।
माया अलादीन मुलतानू ॥

मानवेतर पात्रों में हीरामन शुक को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है । उन्होंने उसे गुरु के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है । उसके अतिरिक्त कवि ने सिंहल द्वीप के पंडुक, पपीहा, और गडुरी आदि पक्षियों को साधना-रत दिखाकर उन्हें प्रकारान्तर से भक्त का प्रतीक माना है ।

**घटनाओं की रूपकात्मक स्थिति**

'पद्मावत' की विभिन्न घटनाओं में प्रस्तुत के साथ-साथ अप्रस्तुत को ग्रहण कर रूपक को व्यापक स्थान प्रदान किया गया है । यथा:—

(१) कवि ने रत्नसेन द्वारा सिंहल द्वीप की यात्रा की घटना को प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत आध्यात्मिक रूप प्रदान कर इस यात्रा को साधक के सभी भ्रमों का निवारण करने वाली कहा है । इसी कारण कवि ने रत्नसेन के सिंहल द्वीप के निकट पहुँचने पर निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं :—

गा अँधियार रैन मसि छूटी ।
भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले ।
अंध जो अहे, नैन विधि खोले ॥

(२) रत्नसेन के सिंहल द्वीप में समाधिस्थ होने की घटना में कवि ने हठयोगी साधना की विभिन्न प्रवृत्तियों का समावेश करते हुए उसे भी आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है ।

(३) पद्मावती के विवाह करने के उपरान्त रत्नसेन के लौटते समय सामूद्रिक तूफान और लंका के राक्षस द्वारा भटकाने की कथा द्वारा कवि

ने साधना-मार्ग में शैतान द्वारा उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का चित्रण किया है।

(४) अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन को बंदी बनाकर दिल्ली ले जाने की घटना को कवि ने परलोक-यात्रा का स्वरूप प्रदान किया है।

उपर्युक्त घटनाओं और उनके रूपकात्मक स्वरूप का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने 'पद्मावत' में अनेक स्थानों पर इसी दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा की है।

## स्थानों की रूपकात्मक स्थिति

'पद्मावत' में 'चित्तौड़' को 'तन' का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार कवि ने सिंहलगढ़ के दुर्गम स्वरूप का हठयोगी साधना से समन्वय स्थापित कर उसे भी शरीर का प्रतीक कहा है। 'दिल्ली' को कवि ने 'परलोक' के रूप में चित्रित किया है। इन सभी स्थानों में जायसी ने सिंहल द्वीप को प्रमुखता प्रदान कर उसे हृदय का प्रतीक मानकर ईश्वर का निवास-स्थान कहा है। उनके अनुसार यही सिंहल द्वीप (हृदय) साधक की प्राप्ति का लक्ष्य है। उन्होंने इस द्वीप को स्वर्गिक् शोभा से युक्त मानकर इसे कैलाश की संज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार उन्होंने शैवोपासना के उस पक्ष को ग्रहण किया है जिसमें कैलाश (शिव लोक) को ही स्वर्ग माना गया है। सिंहल द्वीप के सम्बन्ध में कवि की निम्नलिखित उक्ति इसी की प्रतीक है :—

ऊँची पौरी, ऊँच अवासा।
जनु कैलास इन्द्र कर वासा॥

जायसी ने सिंहल द्वीप के आध्यात्मिक प्रभाव को भी विपुल माना है। उनके अनुसार इस द्वीप में निवास करने वाले गडुरी, पपीहा और पंडुक आदि पक्षी भी ईश्वर का स्मरण करते हैं।

## 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में रूपक-निर्वाह

'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में रूपक का उत्कृष्ट निर्वाह हुआ है। कवि ने इसमें

मन की साधना को ही कथा का रूप प्रदान किया है और इस सम्पूर्ण आख्यान को आत्मा की प्रेम-कथा के रूप में उपस्थित किया है। 'पद्मावत' की घटनाओं का मुख्य केन्द्र-स्थल चित्तौड़ है और वह मानव-शरीर का प्रतीक रहा है। उसके अधिपति राजा रत्नसेन मन के प्रतीक हैं और उन्हें कथा के नायक का स्थान दिया गया है। चित्तौड़-रूपी तन में स्थित रत्नसेन-रूपी मन स्वभावतः विषय-वासना में लिप्त रहता है। कवि ने नागमती को सांसारिक कार्य-कलापों (दुनिया-धन्धा) की प्रतीक मानकर यह प्रतिपादित किया है कि रत्नसेन-रूपी मन उसमें लिप्त रहकर पद्मावती-रूपी प्रज्ञा से विमुख रहता है। इस स्थल पर कवि ने सूफी साधना के अनुकूल हीरामन शुक को गुरु का प्रतीक माना है। उनके अनुसार वह मन को ईश-प्राप्ति की प्रेरणा प्रदान कर साधक का पथ-प्रदर्शन करता है। साधक गुरु द्वारा प्रदर्शित साधना-पथ पर अग्रसर होते हुए अनेक बाधाओं को पार करने के उपरान्त लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है। इस लक्ष्य की स्थिति बाह्य न होकर अन्तः स्थित है। जायसी ने हृदय (सिंहल द्वीप) में अवस्थित सहज सौन्दर्य-बुद्धि को ही साधक का लक्ष्य माना है। उनके अनुसार साधक गुरु की प्रेरणा से अन्त में अन्तः दर्शन में सर्वांशतः सफल हो जाता है।

रूपक की इस स्थिति के होने पर भी 'पद्मावत' में कहीं-कहीं प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का उचित आरोपण नहीं हुआ है। इस दृष्टि से नागमती का विरह-वर्णन सर्वथा अनावश्यक है। उसके मूल में किसी प्रकार के आध्यात्मिक संकेत की स्थिति नहीं है और उसे प्रचलित परम्परा के अनुकूल विरह-वर्णन के आग्रह के कारण ही 'पद्मावत' में स्थान प्राप्त हुआ है। इस विरह-वर्णन में प्रेम की जिस वेदना को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है उसमें जायसी के अपने विरहाकुल हृदय की छाया अवश्य वर्तमान है, किन्तु कथा में समाविष्ट रूपक-तत्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जायसी ने साधना और कर्म-मार्ग के समन्वय पर बल देते हुए पद्मावती

(ईश्वर) की प्राप्ति के अनन्तर भी रत्नसेन (साधक) को नागमती (सांसारिक कार्य-कलाप) के साथ रहते हुए दिखाया है। इसका सांकेतिक अर्थ यही है कि साधक अपनी वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करने के उपरान्त सांसारिक कार्यों से विरक्त होने की कोई आवश्यकता नहीं समझता।

## उत्तरार्द्ध में रूपक का निर्वाह

'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध में कवि ने अलाउद्दीन को माया के प्रतीक के रूप में समाविष्ट किया है। इसी प्रकार राघव चेतन को भी शैतान का प्रतीक माना गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर उत्तरार्द्ध की कथा का महत्व स्पष्टतः प्रतिपादित हो जाता है, किन्तु रूपक की दृष्टि से कथा का यह भाग विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

इसका कारण यह है कि निर्गुण साधना-पद्धति के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के उपरान्त साधक के पथ को बाधा-विहीन मानने का जो विधान है उसका उल्लंघन करते हुए जायसी ने पद्मावती (ईश्वर) की प्राप्ति के उपरान्त भी रत्नसेन (जीव) के प्रेम-मार्ग में राघव चेतन (शैतान) और अलाउद्दीन (माया) को बाधाएँ उपस्थित करने वाला कहा है। निर्गुण साधना के अनुसार इन बाधाओं की स्थिति ईश-प्राप्ति से पूर्व रहती है। इस दृष्टि से अल्लाउद्दीन और राघव चेतन द्वारा उपस्थित की गई बाधाओं को भी रत्नसेन और पद्मावती के विवाह से पूर्व चित्रित करना चाहिए था।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जायसी उत्तरार्द्ध में रूपक-निर्वाह द्वारा आध्यात्मिक स्थिति का प्रतिपादन करने में सफल रहे हैं। इस विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि कवि का लक्ष्य इस कथानक द्वारा रत्नसेन के शुद्ध प्रेम के समक्ष अलाउद्दीन के वासनात्मक अथवा माया-बद्ध प्रेम की असफलताओं को व्यंजित करना था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुरु द्वारा मार्ग प्रशस्त करने पर जो साधक साधना के पथ पर अग्रसर होता है उसे सफलता प्राप्त होती है और शैतान द्वारा

प्रभावित मनुष्य साधना-मार्ग में असफल रहता है, किन्तु वास्तव में कथा के सहज विकास को देखने पर यह आध्यात्मिक अर्थ कवि का अभीष्ट नहीं जान पड़ता।

जायसी ने अपने 'पद्मावत' में रूपक का समावेश केवल कुछ विशेष स्थलों पर ही किया है और उनके कुछ पात्र ही लौकिक व्यक्तित्व के साथ-साथ प्रतीकात्मक अस्तित्व को रखने में सफल हुए हैं। वास्तव में 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में रूपक की जो उत्कृष्ट स्थिति रही है वह उत्तरार्द्ध में जाकर शनैः शनैः लुप्त हो गई है। जायसी द्वारा 'पद्मावत' के अन्त में दिया गया सांकेतिक कोश भी एक समस्या उत्पन्न कर देता है। वहाँ रत्नसेन को मन का प्रतीक कहा गया है और सिंहल को हृदय का प्रतीक माना गया है। इस प्रकार कवि ने इन दोनों को ही एक तत्व का प्रतीक मानकर असावधानी का परिचय दिया है।

इसी प्रकार 'पद्मावत' में नागमती को सांसारिक कार्य-कलाप कहा गया है; राघव चेतन को शैतान का प्रतीक माना गया है और अलाउद्दीन को माया के रूप में उपस्थित किया गया है। वास्तव में तात्विक दृष्टि से सांसारिक कार्य-कलाप, शैतान और माया परस्पर भिन्न न होकर एक ही हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार माया के विद्या और अविद्या नामक दो पक्ष तो अवश्य माने गए हैं, किन्तु तीन प्रकार की माया का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता। इस प्रकार जायसी ने यहाँ भी भूल की है।

इसी प्रकरण में यह भी उल्लेखनीय है कि जायसी ने नागमती को सांसारिक कार्य-कलाप की प्रतीक मानकर बाह्यतः उसे साधना में विरोध उपस्थित करने वाली कह कर भी वास्तव में उसे एक आदर्श त्यागमयी नारी के रूप में उपस्थित किया है। कवि ने नागमती के प्रेम को पद्मावती के प्रेम से भी दिव्य माना है। अतः इस स्थल पर भी जायसी असफल रहे हैं।

आत्मा (रत्नसेन) और परमात्मा (पद्मावती) के सम्मिलन के

उपरान्त माया (अलाउद्दीन) और शैतान (राघव चेतन) द्वारा उसका विच्छेद कराकर भी कवि ने साधना के मार्ग में अपनी अल्पज्ञता का परिचय दिया है।

जायसी ने 'पद्मावत' में मुख्य रूप से प्रेम-कथा का ही निरूपण किया है, किन्तु कुछ स्थलों पर उन्होंने प्रस्तुत कथा पर अप्रस्तुत आध्यात्मिक रूपक का भी समावेश किया है। इस रूपक की स्थिति विशिष्ट कथा-प्रसंगों में तो प्रायः ठीक ही रही है, किन्तु समष्टि रूप में 'पद्मावत' की कथा पर आध्यात्मिक रूपक घटित नहीं हो पाता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'पद्मावत' के प्रारम्भ में कवि ने उसे रहस्यवादी अन्योक्ति के रूप में उपस्थित करना चाहा है, किन्तु शनैः-शनैः इस दृष्टिकोण का निर्वाह करने में असफल होकर उन्होंने अनेक स्थानों पर रूपक का बहिष्कार भी कर दिया है। अतः 'पद्मावत' में अन्योक्ति के स्थान पर समासोक्ति की स्थिति को मानना उचित होगा।

: ९ :

# सूर का जीवन-दर्शन

किसी भी कवि तथा कलाकार के जीवन-दर्शन से हमारा तात्पर्य स्पष्टतः यही है कि सृष्टि में जीव के प्राण-निर्वहन के विषय में उसका क्या दृष्टिकोण है। जीव के प्रति उसकी विचार-धारा और प्रतिक्रिया का सम्यक् आलेखन ही इसका मूल विषय है। प्रकारान्तर से हम उसके द्वारा जीवन के सर्वांगीण विश्लेषण और अन्त में तात्विक सिद्धान्त-निर्धारण को इसकी सीमाओं में प्रतिबद्ध कर सकते हैं। अपने शुद्ध रूप में किसी भी व्यक्ति का जीवन-दर्शन तत्कालीन समाज के व्यापक क्षेत्र से सहज-सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार जीवन के विषय म अपना मत निर्धारित करते समय किसी भी व्यक्ति के लिए समाज-दर्शन का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। इसी तथ्य के फलस्वरूप किसी भी जीव के पूर्व-निश्चित लक्ष्य पर समाज की गति-विधि का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और उसके स्वरूप में तनिक भी अन्तर आने से लक्ष्य की रूप-रेखा भी उसी परिमाण में परिवर्तित हो उठती है।

प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक आदर्श परस्पर भिन्न होते हैं और उनमें किसी न किसी मौलिक भेद की स्थिति होती है। इन्हीं आदर्शों के अनुसार विभिन्न वर्गों के प्राण-निर्वाह-विषयक दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर का संचार रहता है। सूर ने इस विषय में स्वभावतः ही भारतीय परम्परा को स्वीकार किया है। उन्होंने वैदिक तथा उपनिषद्-कालीन संस्कृति

से लेकर अपने युग के संस्कार-पथ तक के विकास-क्रम को अत्यन्त संतुलित रीति से उपस्थित करने का प्रयास किया है। विभिन्न युगों के जीवन-सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि प्रायः देश-विदेश में विभिन्न युगों में उनकी स्थिति एक सम आधार पर ही वर्तमान रही है। यह सत्य है कि उनके प्रतिपादन के बाह्य आकार में परिस्थितियों के अनुसार कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु प्रतिपाद्य के आधारभूत सूत्र प्रायः वही रहे हैं। युग-विशेष की अपनी पृथक् विशेषताओं के होने पर भी यह स्पष्ट है कि समय-प्राप्त रूढ़ियाँ सरलतापूर्वक परिवर्तित नहीं हो पातीं। सत्य तो यह है कि उनके स्वरूप में केवल व्याख्यान की शैली से ही भेद का संचार हो पाता है, अन्यथा उनके अन्तरंग भाग में भाव-ऐक्य के एक ही सूत्र की अविच्छिन्न स्थिति रहती है। इस स्थान पर यह दृष्टव्य है कि युग-परिवर्तन के उपरान्त भी जीव का शारीरिक और मानसिक विकास उतनी शीघ्रता से परिवर्तित नहीं हो पाता। उसके स्वरूप में अन्तर का विधान अवश्य होता है, किन्तु क्रमागत होने के कारण उसके विकास की गति अपने आप में अत्यन्त शान्त होती है। इसी कारण उसके जीवन-दर्शन में सामान्यतः किसी विशेष अन्तर का त्वरित प्रादुर्भाव नहीं हो पाता।

भाव-परिवर्तन की यह स्थिति भयावह न होकर नितान्त सन्तोषप्रद है। इसका कारण यही है कि किसी भी तीव्र-चालित सैद्धान्तिक क्रान्ति का आविर्भाव उसी समय उपादेय होता है जब सम्बद्ध तत्व की आधार-शिला पूर्णतः खोखली हो जाती है और उसमें शक्ति-संचालन के लिए तनिक भी अवकाश शेष नहीं रह जाता। अन्यथा यही अधिक युक्ति-संगत है कि जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों को संघर्ष द्वारा स्वतः ही वैधानिक रीति से परिवर्तन की ओर उन्मुख होने दिया जाए।

अध्यात्म के क्षेत्र में भारत की पुण्यकर्मा भूमि को सदैव से संसृति में अग्रजा होने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। विश्व के इतर देशों की अपेक्षा उसके ऋषि-वर्ग ने जीवन के स्वस्थ निर्यापन के विषय में कहीं अधिक

मनन-चिंतन किया है। इसी कारण प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त काल-गति के इतने विकासगामी होने के उपरान्त भी उतने ही अकाट्य रूप में सर्वस्वीकृत हैं। उनके अनुसार उपभोग और संयम के समन्वय पर आधृत जीवन ही व्यक्ति के लिए सहज आदर्श हो सकता है। जो व्यक्ति इस विशिष्ट समन्वयात्मक पथ पर जितनी ही सफलतापूर्वक आचरण करेगा वह इस निरन्तर चलायमान सृष्टि में उतनी ही सीमा तक वांछित फल की प्राप्ति कर सकेगा। भारतीय ऋषियों ने परम्परा से प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति मार्ग को अधिक श्रेयस्कर माना है। उन्होंने शान्ति-लाभ के लिए शम-भाव के ग्रहण को उपयुक्त और व्यावहारिक कहा है। वानप्रस्थ आश्रम की मर्यादाओं को निश्चित करने का मूल हेतु भी यही था। अन्तः-करण की शुद्धि का प्रचार करने वाला यह स्वर सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य में समान रूप से व्याप्त है।

यह सत्य है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण के विरोध में भी समय-समय पर विचार जन्म लेते रहे हैं, तथापि इस प्रकार की भावनायें क्रमशः शिथिल होकर प्रायः क्षीण हो गई हैं। इन विपरीतगामी विचारकों में चार्वाक् का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सांसृतिक पदार्थों को उपभोग की निश्चित इकाइयों के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः उचित-अनुचित के दृष्टिकोण का उनके दर्शन में कोई विशेष स्थान न था। उदाहरणार्थ जीवन-निर्वाह के विषय में उनके द्वारा प्रचारित निम्नलिखित मूल मन्त्र देखिए :—

यावत् जीवं सुखं जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्॥

महाकवि सूरदास ने अपने काव्य में इन सभी प्रचलित सैद्धान्तिक विचार-प्रणालियों का आश्रय ग्रहण किया है। मानव-जीवन की प्रगति का अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने उसके विकास को स्पष्ट रूप से चतुर्मुखी अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसलिए इस विषय में सिद्धान्त-निर्धारण

करते समय भी उन्होंने स्वभावतः इसी चतुर्सूत्री आधार को ग्रहण किया है। यथा:—

(१) सूर के कृष्ण और प्रेममयी गोपियों के अनुसार संसार सत्य तथा नित्य है। इसमें प्राण-यापन करते समय व्यक्ति को एक विशेष सन्तुलित मनोवृत्ति का ध्यान रखना चाहिए अर्थात् आत्म-निषेध की भावना का पालन करते समय भी उसे सन्तुलन के लिए उसके मूल में अनुराग का मिश्रण कर लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान के लिए भी उसे सम्मिलित प्रयास करना चाहिए। पारस्परिक संयुक्त व्यवहार से ही वह जीवन-संघर्ष में पूर्णतः सफल हो सकेगा।

(२) उद्धव के अनुसार स्राष्टिक व्यवहार अनिवार्य रूप से मायात्मक तथा अनित्य है। इसमें व्याप्त प्रलोभन के वशीभूत होकर व्यक्ति प्रायः अपने आत्म-स्वातन्त्र्य को खो बैठता है। उस समय उसकी समग्र महत्व-संयुक्त आध्यात्मिक भावनायें क्षण भर में ही नष्ट हो जाती हैं। उद्धव को जीवन के लोभ-शून्य और निर्लिप्त निर्वहन में एकान्त विश्वास है। उनका निश्चित सिद्धान्त यही है कि जीव को बाह्य क्रियाओं का मोह त्याग कर सदैव आत्मसाधनारत रहना चाहिए।

(३) कुब्जा के अनुसार जागतिक व्यवहार में व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होने वाली प्रत्येक वस्तु शुद्ध उपभोग के लिए निर्मित है। वह जीवन के इस सत्य को इतना स्पष्ट मानती है कि इसके लिए किन्हीं भी वर्णनात्मक उल्लेखों का उसके जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया है। उद्धव द्वारा प्रतिपादित साधनामूलक वृत्तियों को वह व्यर्थ का आडम्बर मानती है। वास्तव में शुद्ध ऐन्द्रिक तथा अतिभौतिक व्यवहार में उसकी गहन आस्था है।

(४) यशोदा व्यष्टि को समष्टिगत रूप में स्वीकार करती हैं। उन्होंने सम्पूर्ण संसृति में एक ही भावना को अनुस्यूत मानकर स्नेहात्मक

व्यवहार को मूल महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार सर्वभूत के हित-साधन में रतप्राणी सृष्टि-व्यापी स्नेह-भाव के द्वारा न केवल इतर जीवों के लिए ही सुख का विधान करता है, अपितु स्वयं भी अपने जीवन में मानसिक स्वास्थ्य का कुछ अधिक परिमाण में अनुभव करने लगता है। उनके चरित्र का प्रतिपादन कर सूर ने निश्चित रूप से सामरस्य और समाज-दर्शन में विश्वास व्यक्त किया है।

इस विभाजन से स्पष्ट है कि सूर ने जीवन-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों को स्वीकार किया है और इनमें से कतिपय सिद्धान्त वातावरण के भेद से द्वयोन्मुख अथवा त्रयोन्मुख भी हो गये हैं। यथावसर संशोधित तथा अनेकगामी होने वाले इस प्रकार के सिद्धान्तों में गोपियों और यशोदा के संयोग तथा वियोग के अवसर पर परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित होने वाले विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुब्जा के अतिरिक्त अन्य समग्र पात्रों द्वारा निर्धारित जीवन-तथ्यों में जो एक बात सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध होती है, वह है पारस्परिक सहयोग की व्यापक भावना। केवल कुब्जा को ही इस श्रेणी से इसलिए पृथक् किया गया है कि वह निहित स्वार्थों वाली नारी है। कृष्ण के अतिरिक्त वह किसी भी अन्य व्यक्ति से सहयोग रखने में अपना कोई विशेष लाभ नहीं देखती। वैसे सामान्यतः सभी इतर पात्रों ने समाज-दर्शन में आस्था प्रकट की है और जीव-मात्र को एक ही महत् आत्मा से उद्भूत मान कर सबके प्रति सम व्यवहार किया है।

सूर के काव्य का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त हम देखते हैं कि उसमें गोप-वधुओं द्वारा प्रतिपादित जीवन-सिद्धान्तों को अपेक्षाकृत अधिक स्थान प्राप्त हुआ है; उद्धव की जीवन-विषयक मान्यताएँ उप-प्रमुख रही हैं और शेष पात्रों की विचार-धारा को नितान्त गौण स्थान प्राप्त हुआ है। वस्तुतः कुब्जा द्वारा प्रतिपादित मूल विषय तो अपने आप में इतने अर्ध-व्यक्त रहे हैं कि उन्हें पूर्णता प्रदान करने के लिए हमें कथित को

हृदयंगम करने के साथ-साथ कुछ मात्रा में स्वतन्त्र कल्पना का भी आश्रय लेना पड़ता है। इसका मूल कारण यही है कि सूर के वर्ण्य में यशोदा-कृष्ण-सम्बन्ध और उद्धव-गोपी-संवाद के लिए अधिक अवकाश रहा है और अन्य घटनाओं का समावेश केवल प्रासंगिक रूप में ही हुआ है। इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि कवि ने अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर परम्परा-प्राप्त भारतीय जीवन-दृष्टिकोण में एक विशेष सौन्दर्य तथा आकर्षण का विधान किया है। उन्होंने प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि सरस वर्ण्य विषय की तुलना में उद्धव द्वारा प्रतिपादित मत शुष्क तथा बोझिल न हो जाय। इसीलिए उन्होंने पात्र-भेद से विशिष्ट भाव-भंगिमाओं और अभिनय-कौशल का विधान किया है।

जीवन के सुचारु संचालन के विषय में गोपियों का प्रथम सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को कृत्रिमता का परित्याग कर शुद्ध वस्तु-स्थिति का आश्रय ग्रहण करना चाहिए और सर्वत्र शोभन एवं स्वाभाविक को मूर्धन्य पर अभिषिक्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में वे वार्ता के बीच किसी प्रकार की लाग-लपेट तथा अतिशय आवृत्त आख्यान की प्रणाली को नितान्त निन्दनीय मानती हैं और अभिव्यति को शाश्वत रूप में ग्रहण कर सर्वत्र इसी तथ्य पर बल देती हैं कि जीव को सम्यक् प्राण-प्रतिष्ठा के लिए सत्यावृत और निर्भ्रान्त व्यवहार करना चाहिए। जीवन-नियापन के विषय में इस मान्यता को उदाहृत करते समय उन्होंने अपनी समवर्ती परिस्थितियों से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि उनका मत सर्वव्यापी तथा निसर्ग रह सके।

गोपियों की उपर्युक्त विचार-धारा स्पष्ट रूप से औपनिषदिक साहित्य में प्रतिपादित शम् भावना पर आधारित रही है। उन्होंने सर्वत्र यह प्रयास किया है कि वे व्यर्थ के वितण्डात्मक वाद-विवाद का परित्याग कर शान्ति के शीतल स्वर का प्रचार कर सकें। उन्होंने कर्मरत जीवन के उस भाग को विशेष गौरव-संयुत माना है जिसमें व्यक्ति निस्संग भाव से कार्य-

सम्पादन करता है और नैत्यिक जीवन में आने वाली सामान्य अशुद्ध भावनाओं का तुरन्त परित्याग कर देता है। गोपियाँ स्वार्थ भाव से किए गए कार्यों को नितान्त अनुपयुक्त और हेय मानती हैं और सामाजिक मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए इस प्रकार के व्यक्ति के बहिष्कार का अनुमोदन करती हैं। उनकी धारणा है कि स्वार्थ-लिप्त प्राणी कभी भी किसी वस्तु अथवा समस्या के विषय में निर्णयात्मक रीति से कोई अन्तिम बात नहीं कह सकता। अपने भ्रमरगीत प्रकरण में उद्धव को इसी भाव से लिप्त मान कर वे उनकी वार्ता को अधिक गम्भीर रूप में स्वीकार नही करतीं। उद्धव के प्रति तीव्र असन्तोष प्रकट करते हुए कहा गया उनका निम्नलिखित कथन इसी भाव-धारा का प्रतीक है:—

> अपने स्वारथ को सब कोऊ।
> चुप करि रहौ, मधुप-रस-लंपट ! तुम देखे अरु वोऊ॥

गोपियाँ लौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार की जीवन-धाराओं में आराध्य के प्रति एकान्त एकनैष्ठ्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करती हैं। उनके अनुसार व्यष्टि की पृथक् इकाई समष्टि की व्यापक परिधि में मिलकर अन्य तत्वों के साथ उसी समय तदाकार भाव का अनुभव करती है जब उसके अन्तस् में सत्य-प्रतिज्ञ और वचन-निबद्ध रहने की चेतना अपने पूर्ण प्रकर्षात्मक रूप में विद्यामान रहती है। इसी कारण वे अनेकोन्मुख देव-साधना को नितान्त विग्रहात्मक मानती हैं और उससे पृथक् रहने का संकल्प करते हुए कृष्ण के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति निष्ठावान रहने के विभिन्न प्रलोभनों पर तनिक भी ध्यान नहीं देतीं। इसके साथ ही उनका निश्चित मत है कि साध्य के प्रति सतत एकत्व-भाव की अनुभूति से साधक को कहीं अधिक शान्ति की प्रतीति होती है और अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा वह जीवन के प्रति अधिक आशावादी रहता है। आगे हम उनकी अनन्य साधना-पद्धति से सम्बद्ध एक उत्कृष्ट पद उद्धृत करते हैं:—

ऊधो ! यह मन और न होय ।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रंग, छुटत न देख्यो धोय ।।
कैतव-वचन छाँड़ि हरि हमको, सोई करें जो भूल ।
जोग हमें ऐसो लागत है, ज्यों तोहि चंपक फूल ।।
अब क्यों मिटत हाथ की रेखा ? कहो कौन विधि कीजै ?
सूर, स्याम मुख आनि दिखाओ, जाहि निरखि करि जीजै ।।

जीव, जीवन और जगत् के त्रिक् का परस्पर अत्यन्त गहन सम्बन्ध है । यही करण है कि इनमें से किसी एक के विषय में विचार करते समय भी प्रकारान्तर से दूसरा हमारे नेत्रों के समक्ष सतत विद्यमान रहता है । प्राय: इन तीनों के प्रति व्यक्ति की विचार-धारा समान ही रहती है और उसमें किसी विशेष प्रकार के सैद्धान्तिक अन्तर का विधान नहीं होता । इसी एकता के फलस्वरूप गोपियाँ जीव-व्यवहार, जीवन-निर्यापन और विश्व-वैशिष्ट्य, तीनों का एक ही दृष्टि से अवलोकन करती हैं और उन्हें सुखात्मक परिस्थितियों से सर्वथा अविचल मानती हैं ।

जीवन की निर्वहन-सन्धि में दु:खात्मक-विचार-धारा को परिपुष्ट होते देखना गोपियों को कदापि स्वीकार नहीं है । वे भोग-रत और भोग-विरत, दोनों ही स्थितियों में सम-भाव को विशेष महत्व प्रदान करती हैं और अतिवादी तत्वों से मुक्त जीवन-दृष्टि को सांस्कृतिक व्यवहार के लिए पूर्ण कल्याणकारी मानती हैं । इसी पूर्वाग्रह और अतिवाद का परित्याग कर देने के कारण वे विरतिमूलक अनुराग-भावना को परिपोष प्रदान कर सकी हैं और केवल शृंगार अथवा केवल अन्त: साधन का उनके लिए कोई मूल्य नहीं रहा है । गोपियाँ जीवन में दु:ख के आगमन को नितान्त स्वाभाविक मानती हैं, किन्तु केवल इसी कारण उससे पलायन करना उन्हें नितान्त अशोभन प्रतीत होता है । उनका मूल प्रतिपाद्य यही है कि वेदना का निराकरण करने के लिए व्यक्ति को पूर्ण प्रयतनशील रहना चाहिए ।

इसी को लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने विरह-क्षणों को अन्त में सुखमूलक माना है। यदि आवेगवश कहीं हमें इसका विरोध भी प्राप्त होता है तो या तो वह अत्यन्त क्षणिक् होता है अथवा उद्धव और कृष्ण के प्रति व्यंगपरक होने के कारण शीघ्र ही निराकृत हो जाता है। आगे हम उनकी सुखवादी मनोवृत्ति की व्यंजना उपस्थित करने वाला एक उत्कृष्ट पद उद्धृत करते हैं :—

ब्रजजन सकल स्याम-व्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत, आन कहें व्यभिचारी॥
यह संदेश नहिं सुनै तिहारो, है मण्डली अनन्य हमारी।
जो रस-रीति करी हरि हम सों, सो कत जात बिसारी॥
महामुक्ति कोऊ नहिं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मन मोहन, मूरति की बलिहारी॥

उद्धव प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करने में आस्था रखते हैं और उनका प्रकट विश्वास है कि व्यक्ति को आत्यन्तिक सुख की उपलब्धि तभी हो सकती है जब वह आत्म-साधना में रत हो कर निर्गुण ब्रह्म की एकनिष्ठ साधना करे। इस प्रकार वह बहिर्मुखी दर्शन का विरोध कर अन्तर्मुखी दर्शन का समर्थन करते हैं और व्यक्ति को पूर्ण इकाई मानकर उसके द्वारा सम्पादित कर्म को चिरस्थायी तथा शाश्वत रूप में स्वीकृत करते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि अतिभौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण का अनुभव करने वाला प्राणी किसी भी अवस्था में साधनोपजीवी नहीं हो सकता। इसी कारण वह सगुणाराधक गोपियों को यह उपदेश देते हैं कि वे अपने मन के राग-तत्व को स्थूल वृत्तियों से हटाकर सूक्ष्म और अव्यक्त ब्रह्म की ओर उन्मुख करें।

उद्धव के जीवन-दर्शन के स्पष्टतः दो भाग हैं। पूर्व-रूप में वह निर्गुणोपासना के महत्व का प्रतिपादन करते हैं और उत्तर-रूप में सगुण साधना के प्रेममूलक व्यवहार को स्वीकार कर लेते हैं। भ्रमरगीत प्रकरण में उनके ये दोनों ही रूप नितान्त मुखर रहे हैं। इन दोनों का ही समर्थन उन्होंने

अत्यन्त प्रबल शब्दों में किया है और कोई कारण नहीं कि हम इन दोनों को समान रूप में स्वीकार न करें। फिर भी सूर के काव्य में इनकी निर्गुण साधना को ही अधिक स्थान प्राप्त हुआ है और गोप-वधुओं से प्रत्युत्तर प्राप्त होने के कारण उनके तद्‌विषयक सिद्धान्त ही अधिक प्रमुख रहे हैं। इस साधना-प्रणाली के अनुसार वह व्यक्ति-मात्र में एक ही आत्मा के स्पन्दन का अनुभव करते हैं और उनके बीच किसी भी प्रकार की भेद-बुद्धि के विधान को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीवन के उपयुक्त निर्वाह के लिए भ्रम और चिन्ता का नाश अनिवार्य है और इसके लिए निर्गुण का आश्रय भी नितान्त अपरिहार्य है। यथा:—

रंक राज दूजो नहिं कोय ।
आपुहि आप निरंजन सोय ।।
यहि प्रकार जाको मन लागै ।
जरा, मरन, जी तें भ्रम भागै ।।

कृष्ण भारतीय पारिवारिक जीवन को शुद्ध, गरिमामय और पवित्र मानते हैं। प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों की उपादेयता को स्वीकार करते हुए वह सत्य, शील और स्नेह आदि उदात्त गुणों का पूर्ण निर्वाह करते हैं। समष्टि से सहयोग करते हुए समाजगत मूल्यों की मर्यादा स्थापित रखने में वह पूर्णतः दक्ष हैं और यही कारण है कि उनकी उपस्थिति में चतुर्दिक् वातावरण पूर्णतः मधुर और गुंजरित हो उठता है। माता, पिता, सखा और प्रेमिकाओं सभी के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त सन्तुलित रहा है। उनके अनुसार व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य जीवन में शान्ति का विधान करना है और इसके लिए स्वाभाविक, सरल और मृदु आचरण नितान्त अनिवार्य है। कृतज्ञता, कार्य-तत्परता और रस-सिद्धता को वह किसी भी उत्साही जीव के लिए आवश्यक समझते हैं और जीवन में सप्राण तत्वों के प्रतिष्ठान के लिए यही सर्वाधिक अपेक्षित भी है। निम्नलिखित पंक्तियों में हमें उनके इसी शील-भाव के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं :—

पहिले कर परनाम नन्द सों, समाचार सब दीजो ।
और यहाँ वृषभानु गोप सों, जाय सकल सुधि लीजो ।।

श्रीदामा आदिक सब ग्वालन, मेरे हुतो भेंटियो ।
सुख-संदेस सुनाय हमारो, गोपिन को दुख मेटियो ।।

—(उद्धव के प्रति कथित)

कुब्जा का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उपयोगितावाद की भावना पर आधारित रहा है । स्वार्थ-लिप्त अन्तस् के संकेत भी वहाँ हमें निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाते हैं । वस्तु-दर्शन के विषय में उसका अपना भिन्न दृष्टिकोण है । वह प्रत्येक पदार्थ का मूल्यांकन शुद्ध ऐहिक मानदण्डों के अनुसार करती है । तथ्यतः उसकी अधिकांश मान्यतायें चार्वाक्-दर्शन के अनुकूल हैं और उसकी क्रिया-वृत्तियों में प्रायः अवसरवादी मनोवृत्ति के सूत्र परिलक्षित होते हैं । इसके साथ ही कुब्जा कहीं-कहीं कटु सत्यों का भी प्रयोग करती है । इनके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वक्र प्रकृति से समन्वित होने के कारण वह प्रायः अपने शोभन विचारों को भी उपयुक्त शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाती । इससे यही प्रकट होता है कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण एकान्त अहंवादी होते हुए भी दूसरी ओर किसी सीमा तक विनय-भाव से आप्लावित रहा है और कम से कम भावना की दृष्टि से कृष्ण के प्रति वह पूर्णतः आदेश मानने वाली रही है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में कृष्ण और इतर सृष्टि के बीच भेद रखते हुए वह अपने प्रियतम के प्रति स्पष्टतः अधिक कृतज्ञ रही है:—

मो पै काहे को झुकति ब्रज नारी ?
काहू के भाग सों साझो नाहिन, हरि की कृपा न्यारी ।।

फलन माँझ जैसे करुई तूमरि, रहति जो घूरे डारी ।
हाथ परी जब गुनी जनन के, बाजति राग दुलारी ।।

यह संदेस कुब्जा कहि पठयो, अरु कीन्हीं मनुहारी।
तन टेढ़ी सब कोऊ जानत, परसे भई अधिकारी॥
हौं तो दासी कंस राज की, देखहु हृदय विचारी।
सूर स्याम करुनाकर स्वामी, अपने हाथ सँवारी॥

यशोदा जीवन को शान्त-स्निग्ध रीति से निर्यापित करने में आस्था रखती हैं। उनके अनुसार व्यक्ति को 'अहं' का त्याग कर 'त्वं' का आश्रय ग्रहण करना चाहिए और अति तिक्त कटु वचनों की अपेक्षा विनय भाव पर आधृत सरल शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रकृति के प्रत्येक तत्व में आत्मा के स्पन्दन का अनुभव किया है और उसके प्रति एक विशेष स्नेहात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। प्रयास द्वारा उपलब्ध सुखों को प्रवंचनात्मक मानकर वह सहज-प्राप्त वस्तुओं को ही अधिक गौरवपूर्ण मानती हैं और विचारों के अनुकूल होने के कारण उन्हीं में मंगल का दर्शन करती हैं। प्रयास से मेरा तात्पर्य यहाँ शुद्ध परिश्रम से न होकर अवान्तर कृत्रिम रीति से प्रतिपादित कार्य-प्रणालियों से है।

अस्तु, सन्तान के सुख के विषय में चिन्तनशील रहने के साथ-साथ यशोदा प्रत्येक प्रकार की ईर्ष्या और छलना की भावनाओं से भी मुक्त रही हैं। ऐसा करते समय वह व्यर्थ आत्म-ग्लानि के फेर में न पड़कर आत्मा में विशिष्ट उन्नयन का अनुभव करती हैं और इसी विनयपरक शान्तिमय तथा सौम्य विचार-धारा को जीवन के उपयुक्त निर्वहन के लिए आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार इससे न केवल तत्कालीन कार्य-सिद्धि होती है, अपितु पश्चात्-काल में भी पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त मधुर बने रहते हैं। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत पंक्तियों में उनका व्यवहार निश्चित रूप से इसी ऋजु-सरल और निर्भ्रान्त जीवन-यापन की ओर संकेत करता है :—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो॥

× × ×

तुम तौ टेव जानतिहि ह्वै हौ, तऊ मोहि कहि आवै।

प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै है करत संकोच ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर के काव्य में जीवन-सिद्धान्तों का प्रस्थापन अनेक सरणियों में हुआ है और बाह्यतः विभिन्न होने पर भी उन सबका मूल स्वर प्रायः एक ही है । यहाँ तक कि कुब्जा का व्यवहार भी स्वयंवादी और वक्र होने के साथ-साथ प्रियतम के प्रति आस्थापूर्ण रहा है और वह इस प्रकार अपने अन्य सहयोगी पात्रों से बहुत अधिक दूर नहीं रही है । इन सभी व्यक्तियों ने जीवन का गहन अध्ययन किया है और उसके विविध रूपों का वे पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं । वस्तुतः अनुभूति और चिन्तन की व्यापक भावनाओं से समन्वित होने के कारण ही कवि की उक्तियाँ अधिक प्रभावशाली और मर्मशीला हो सकी हैं और इसी के फलस्वरूप वह स्वयं भी अपनी मान्यताओं का अधिक विश्वास-पूर्वक समर्थन कर सके हैं । अन्तरहेतु के रूप में इस भावना ने नितान्त क्रियात्मक सहयोग प्रदान किया है और अपने सजग-सचेष्ट व्यवहार द्वारा काव्यगत पात्रों को निष्क्रिय होने से बचा लिया है ।

जीवन के प्रति इन विविध लक्ष्यों का आधार शुद्ध रागात्मक रहा है और उसी के अनुसार इन सब के बीच एकता की एक विशिष्ट भावना वर्तमान रही है । इस सूत्र-अन्विति का संवहन करने में पात्रों के निसर्ग-स्वाभाविक व्यवहार-वार्तालाप ने भी पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है । प्रायः वे हमारे समक्ष परस्पर सहकारी के रूप में उपस्थित हुए हैं । कुब्जा के व्यवहार में कुछ अंशों तक विरोध की प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु कृष्ण और उद्धव के प्रति उसकी प्रकृति भी नितान्त सहृदयतापूर्ण रही है । प्रेम, स्नेह, ईर्ष्या और मान के रूप में जीवन के जितने भी सहज रूप हो सकते हैं, उन सभी को सूर ने स्वतन्त्र रीति से ग्रहण किया है । कवि ने प्रत्येक

प्रकार से यह चेष्टा की है कि पात्रों के स्वभाव और जीवन-सिद्धान्तों की पृथक् और प्रकट अभिव्यक्ति की जा सके और किसी का भी मत आवरण-बद्ध न रहने पाये ।

सूर ने अपने काव्य में उच्छृंखल जीवन की अपेक्षा गार्हस्थिक जीवन और उसकी मर्यादाओं को अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है । उनके सिद्धान्तों में गाम्भीर्य का विशेष पुट है और व्यापक दृष्टि से संयुक्त होने के कारण इनकी उपादेयता स्वयं-सिद्ध है । जीवन की अस्वस्थ प्रवृत्तियों से विलग रखकर मन का स्वतन्त्र उद्‌भावन उपस्थित करने के कारण इनमें आकर्षण की पूर्ण गति का सन्निहन हुआ है । इन सिद्धान्तों को सन्तुलित रूप में एकत्रित करने के उपरान्त प्रतिपालित करने में निश्चय ही अध्येता अथवा प्रतिपालक की सुख-सिद्धि की अधिक सम्भावनाएँ हैं । इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रकार इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन शुद्ध लोक-हित की दृष्टि से हुआ है उसी प्रकार इनका अनुसरण भी उतने ही शुद्ध रूप में हो । तभी इनका शाश्वत महत्व हमारे समक्ष और अधिक स्पष्ट हो पाएगा ।

: १० :

# तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में ईश्वर के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने का समय-समय पर प्रयत्न किया जाता रहा है और प्रत्येक भक्त ने अपनी रुचि के अनुकूल ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का आख्यान किया है। भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों में से उनका रामावतार भारतीय जनता को विशेष प्रिय रहा है और भगवान् राम की स्तुति में प्रचुर साहित्य का निर्माण किया गया है, तथापि कवियों ने उनके मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप को सदैव अगाध और अमित माना है। उदाहरणार्थ महाकवि तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

राम चरित सत कोटि अपारा ।
स्तुति सारदा न बरनइ पारा ।।

महाकवि तुलसीदास भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। राम-चरित्र के मर्म को हृदयंगम कर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना को पूर्णतः आदर्श-रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती राम-साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रेरणा-ग्रहण के साथ-साथ उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए राम-भक्ति को अधिकाधिक आदर्श रूप में उपस्थित किया है और उसे सर्वजनसुलभ बना दिया है। इस दृष्टि से उनके 'रामचरित मानस', 'गीतावली', 'कवितावली', और 'विनय-पत्रिका' नामक काव्यों का विशेष महत्त्व है।

रामकाव्य की रचना सर्वप्रथम महर्षि बाल्मीकि ने की थी। तुलसी ने उनकी 'रामायण' से प्रेरणा ग्रहण अवश्य की है, तथापि उन्होंने राम-कथा को अनेक स्थानों पर उससे भिन्न रूप में उपस्थित किया है। तुलसी ने ये परिवर्तन प्रायः मर्यादा-रक्षण, शील-निरूपण, भक्ति के प्रबल आदर्श के संस्थापन तथा राम के अवतार-रूप के प्रतिष्ठापन के लिए किये हैं। यथा:—

(क) बाल्मीकि ने राम को एक महा पुरुष के रूप में चित्रित किया है, किन्तु तुलसी ने राम से विभिन्न मानवीय लीलाओं का प्रतिपादन करा कर भी उनके ईश्वरीय स्वरूप की स्थापना की है और अपने 'रामचरित-मानस' में राम की इस अलौकिकता की ओर अनेक बार संकेत किये हैं।

(ख) बाल्मीकि ने अपने काव्य में केवल प्राचीन आर्य-संस्कृति की विशेषताओं का ही निरूपण किया है, किन्तु तुलसी ने आर्य-संस्कृति के प्राचीन स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ अपने काव्य में अनेक अन्य उपासना-पद्धतियों एवं मतों का समन्वय उपस्थित किया है।

(ग) तुलसी ने 'बाल्मीकि रामायण' के सीता-त्याग-विषयक प्रकरण की कथा सर्वगुणसम्पन्न राम के लिए अशोभनीय मानकर उसको 'राम-चरितमानस' में स्थान नहीं दिया है।

(घ) बाल्मीकि ने अपने सभी पात्रों के चरित्रों को यथार्थ रूप में अनावृत्त रीति से उपस्थित किया है, किन्तु तुलसी ने अपने सभी पात्रों को राम-भक्ति के भाव से ओत-प्रोत दिखाया है।

(च) 'बाल्मीकि रामायण' में परशुराम और राम की भेंट राम के विवाह के उपरान्त मार्ग में भी कराई गई है, किन्तु तुलसी ने रस-सृष्टि के लिए इस कथांश का त्याग कर दिया है और इस भेंट को धनुष् के भंग होने तक ही सीमित रखा है।

राम-काव्य-परम्परा में 'बाल्मीकि रामायण' के पश्चात् 'अध्यात्म-

रामायण' का नाम उल्लेखनीय है। तुलसी के 'रामचरितमानस' पर इसका गहन प्रभाव है। यथा:—

(क) 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार राम मूलतः निर्गुण ब्रह्म ही हैं और विश्व-कल्याण के लिए कभी-कभी सगुण रूप धारण करते हैं। तुलसी ने भी 'मानस' में राम के इसी स्वरूप को व्यक्त किया है :—

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जो गुन रहित सगुन सोई कैसे।
जल हिम उपल विलग नहिं जैसे॥

(ख) इन दोनों काव्यों में सीता को परमात्मा की आदि शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है।

(ग) इन दोनों में माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप को व्यक्त किया गया है।

कथानक में इस प्रकार की अनेक समानताएँ होने पर भी 'मानस' की रचना 'अध्यात्म रामायण' के अनुकरण पर नहीं हुई है। 'मानस' में समाविष्ट अनेक प्रसंगों का 'अध्यात्म रामायण' में सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कुछ प्रसंगों में तुलसी ने अपनी रुचि के अनुकूल परिवर्तन भी किए हैं। यथा:—

(क) 'अध्यात्म रामायण' में राम और सीता का विष्णु और लक्ष्मी से तादात्म्य स्थापित करके भी अन्त में विष्णु एवं लक्ष्मी को ही श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु तुलसी ने राम और सीता की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया है।

(ख) 'अध्यात्म रामायण' में ज्ञान को साध्य और भक्ति को साधन के रूप में उपस्थित किया गया है, किन्तु तुलसी ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है।

तुलसी ने अपने 'मानस' की रचना करते समय कालिदास के 'रघुवंश' से भी प्रेरणा ग्रहण की है। 'रघुवंश' के प्रारम्भ में कवि ने विनम्रता के कारण अपने को जिस प्रकार अज्ञ, अयोग्य और असमर्थ कहा है उसी प्रकार तुलसी ने भी 'मानस' के उपक्रम में अपनी दीनता का प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने काव्य में 'रघुवंश' की उक्तियों को भी समादृत किया है।

तुलसी ने 'योगवाशिष्ठ महारामायण' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपने 'मानस' में उनके कुछ विचारों का प्रतिभास उपस्थित किया है। किसी-किसी स्थल पर उनकी उक्तियों में 'योगवाशिष्ठ महारामायण' की प्रतिध्वनि भी लक्षित होती है।

तुलसी ने अपने 'मानस' में 'प्रसन्न राघव' तथा 'हनुमन्नाटक' नामक संस्कृत-नाटकों से भी प्रेरणा ग्रहण की है। राम-सीता के परस्परावलोकन तथा परशुराम-लक्ष्मण-संवाद-सम्बन्धी प्रकरणों को तुलसी ने 'प्रसन्न राघव' की रीति से ही उपस्थित किया है, किन्तु उसकी विस्तार की प्रवृत्ति का उन्होंने त्याग कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मानस' में 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' की कुछ मार्मिक उक्तियों को भी प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

तुलसी ने अपने राम-काव्य में पुराण-साहित्य से भी सहायता ग्रहण की है। 'मानस' को 'नाना पुराण-सम्मत' कहकर उन्होंने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से श्रीमद्‌भागवत पुराण, पद्म पुराण, अग्नि पुराण और विष्णु पुराण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से तुलसी ने 'भागवत' से सर्वाधिक सहायता ग्रहण की है और अपने अनेक भावों और सिद्धान्तों को उसी के आधार पर उपस्थित किया है। इसी प्रकार वर्षा और शरद् ऋतुओं का वर्णन करते समय भी उन्होंने 'भागवत' के तत्सम्बन्धी प्रकरणों का आधार ग्रहण किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने राम-कथा की रचना करते समय

अपने पूर्ववर्ती राम-साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने अपने राम के चरित्र में शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि मानवीय गुणों के अतिरिक्त देवत्व का भी सुन्दर सम्मिश्रण उपस्थित किया है। वास्तव में उन्होंने अपने काव्य में बाल्मीकि और कालिदास की कवित्व-शक्ति और 'अध्यात्म-रामायण' की आध्यात्मिकता का ऐसा अद्भुत संयोग उपस्थित किया है कि एक ओर तो 'मानस' एक आदर्श धर्म-ग्रन्थ के रूप में समादृत है और दूसरी ओर वह एक श्रेष्ठ महाकाव्य बन पड़ा है।

: ११ :

# 'कवितावली' का साहित्यिक सौन्दर्य

भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने काव्य के अन्तस्तल में प्रत्येक तथ्य का प्रतिष्ठान करते समय सूक्ष्म निरीक्षण एवं गहन अनुभूति की भावनाओं को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इसी साधना के फल-स्वरूप उनके काव्य में पद-पद पर जीवन-व्यापी सिद्धान्तों का एक ऐसा विशद संगठन उपलब्ध होता है कि उसका परिचय प्राप्त होने पर मानव के समग्र ज्ञान-तन्तु निश्चित रूप से सक्रिय रूप में आन्दोलित हो उठते हैं। उनकी 'कवितावली' मुक्तक-पद्धति के अन्तर्गत की गई रचना है। कवि ने इसमें 'रामायण' के मृदु कथानक का अत्यन्त सुष्ठु रीति से निर्वाह करने का प्रयत्न किया है, परन्तु किसी-किसी अध्याय में केवल एक ही छन्द की योजना के कारण कथा-प्रवाह में अवरोध उपस्थित हो गया है। कथा-सूत्र को इस प्रकार क्रम-बद्ध करने का यत्न विशेष श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता।

'कवितावली' की रचना करते समय गोस्वामी जी ने कल्पना, अनुभूति एवं साधना के उत्कृष्ट सामंजस्य द्वारा एक ऐसे सौन्दर्य-लोक की सृष्टि का विधान किया है जो मानवीय मनोवृत्तियों को गति प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है। ग्रन्थ के आदि में ही भगवान् रामचन्द्र जी के त्याग का स्तव-गान करने के व्याज से कवि ने जीवन की आदर्श परिस्थितियों का निम्नलिखित शब्दों में उद्घाटन किया है :—

कीर के कगार ज्यों नृप चीर,<br>
विभूषण उप्पम अंगनि पाई।

औध तजी मग वास के रूख ज्यों,
पंथ के साथी ज्यों लोग-लोगाई ।।
संग सुबन्धु, पुनीत प्रिया,
मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिवलोचन रामु चले तजि,
बाप को राज बटाउ की नाईं ।।

'कवितावली' में तुलसी ने अपनी अन्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर एवं स्निग्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इसमें उनकी भाषा हमारे सम्मुख अत्यन्त सुन्दर, प्रौढ़ एवं व्यावहारिक रूप में उपस्थित हुई है। उदाहरण-रूप में उनका निम्नलिखित छन्द ब्रजभाषा के मधुर गायक और अनन्य साधक महाकवि सूरदास के किसी भी पद से कम मधुर नहीं है :—

अवधेस के द्वारे सकारे गई,
सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को,
ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक-से ।।
तुलसी मन रंजन रंजित अंजन,
नैन सुखंजन-जातक से ।
सजनि ससि में समसील उभै,
नवनील सरोरुह-से विकसे ।।

तुलसी ने 'कवितावली' में वातावरण के यथार्थ प्रतिनिधित्व को सर्वाधिक श्रेय प्रदान किया है। उन्होंने सृष्टि के प्रत्येक व्यापार का अत्यन्त निकट से अध्ययन करने के अनन्तर उसे अपनी सर्वदर्शी प्रतिभा एवं मौलिक कल्पना के आधार पर पूर्णतः सजीव रूप में स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है। अन्तर्भेदन की इसी सूक्ष्म शक्ति के कारण वह प्रस्तुत काव्य में

स्थान-स्थान पर उच्च कोटि के मनोरम दृश्यों का आयोजन करने में सफल हुए हैं। वास्तव में जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में महाकवि केशव की 'रामचन्द्रिका' के सम्वाद अपना पृथक् एवं विशिष्ट स्थान रखते हैं, उसी प्रकार हमारे कवि के आलोच्य ग्रन्थ के विभिन्न दृश्य भी अपनी रागात्मिका सत्ता के अस्तित्व को उन्मुक्त रूप से प्रकट करते हैं। राम-वन-गमन के एक ऐसे ही प्रसंग में कवि ने अपनी भावनाओं को इस प्रकार की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है:—

धरि धीर कहैं, चलु, देखिय जाई,
जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।
कहिहै जगु पोच, न सोचु कछू,
फलु लोचन आपन तौ लहिहै॥
सुखु पाइहैं कान सुनें बतियाँ कल,
आपुस में कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं,
पुलकीं लखि राम हिये महिहैं॥

'कवितावली' में कवि ने प्रस्तुत विषय के अनुमान के साथ-साथ तत्कालीन स्थिति एवं वातावरण का भी विशद रूप में उल्लेख किया है। संग्रह-ग्रन्थ होने के कारण इसमें काशी-महिमा एवं हनूमान-स्तुति आदि का भी समावेश हुआ है, किन्तु विषय-बाह्य एवं अप्रासंगिक होने के कारण हमारे विचार से इसके द्वारा ग्रन्थ की एकरूपता को कुछ आघात ही पहुँचा है। कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्साक्ष्य उपस्थित करने के कारण भी इस ग्रन्थ का अधिक महत्व है। स्पष्ट ही साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से इस प्रकार के छन्दों ने काव्य के सौन्दर्य में कुछ न कुछ वृद्धि ही की है। उनके कारण गोस्वामी जी के कृतित्व में किसी प्रकार की शिथिलता का संचार नहीं हुआ है।

गोस्वामी जी के अन्तस् में 'नाना पुराण निगमागम' का परिचय

प्राप्त करने की अभिलाषा सदैव जाग्रत एवं परिपूर्ण अवस्था में विद्यमान रही है। इसी के निमित्त उन्होंने गहन अध्ययन एवं अध्यवसाय का आश्रय ग्रहण कर अपने ज्ञान को पूर्णता के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचाने का सतत प्रयास किया है। 'बाल-रामायण' में सीता जी की वन-यात्रा का इस प्रकार उल्लेख किया गया है।

सद्यः पुरी परिसरेऽपि शिरीषमृद्धी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥

कविवर तुलसीदास ने इसी भाव-धारा को अपनी मौलिकता से संपुष्ट कर करुणा के अभीप्सित स्रोत का निम्नलिखित शब्दों में निर्मल उद्भावन किया है:—

पुर तें निकसी रघुवीर–वधू,
धरि धीर दिए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की,
पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति है, चलनो अब केतिक,
पर्न कुटी करिहौं कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अंखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

'कवितावली' में काव्य के ओज, माधुर्य एवं प्रसाद नामक तीनों गुणों का उत्कृष्ट रीति से समावेश हुआ है। ओज-गुण का प्रयोग कवि ने अत्यन्त अल्प ही किया है, तथापि 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद' में उसका यथेष्ट परिपाक दृष्टिगत होता है। वास्तव में कवि ने अनेक स्थलों पर माधुर्य एवं प्रसाद का समन्वित रूप उपस्थित कर उसके माध्यम से

अपनी कविता को रसानुगुण से अभिषिक्त कर उसे एक नूतन अनुप्रेरणा प्रदान करने का सफल यत्न किया है। यथा:—

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच,
बिलोकहु री सखि ! मोहिं-सी ह्वै ।
मग जोग न कोमल, क्यों चलिहैं,
सकुचाति मही पदपंकज छ्वै ।।
'तुलसी' सुनि ग्राम वधू बिथकीं,
पुलकीं तन, औ चले लोचन च्वै ।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप,
अनूप हैं भूप के बालक द्वै ।।

अलंकार एवं रस आदि के विभिन्न सौन्दर्योत्पादक तत्वों का विधान करते समय कवि को सहजागत परिस्थितियों का आह्वान करने में आह्लाद की एक विशिष्ट स्थिति की सर्वत्र समान रूप से अनुभूति हुई है। वास्तव म जनता के कवि महात्मा तुलसीदास ने कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की निम्नलिखित उद्घोषणा की पद-पद पर सहर्ष अभ्यर्थना की है : —

वाणी मेरी, चाहिएँ तुम्हें क्या अलंकार !
तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार ! !

अलंकार-निर्देशन एवं रस-निर्धारण के साथ-साथ तुलसी ने 'कवितावली' में व्यक्ति की विविध मानसिक अवस्थाओं का भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक अंकन किया है। इस प्रकार के चित्र उपस्थित करते समय उन्होंने मनोविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों का यथार्थतः अनुशीलन किया है। उनके निम्नांकित छन्द में हनूमान जी के आतंक का कितना व्यापक और हृदय-स्पर्शी चित्रण हुआ है :—

लागि, लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप, पूत न सँभारहिं ।

छटे बार, बसन उघारे, धूम-धुन्द अन्ध,
कहूँ बारे-बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं ।।

'कवितावली' में घनाक्षरी, छप्पय, एवं झूलना नामक छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि ने उर्दू, फारसी तथा बुन्देलखण्डी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्दों को भी नितान्त सहृदयतापूर्वक ग्रहण किया है। कहीं-कहीं 'झुकर' 'खपुआ' एवं 'फंग' आदि ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि कवि ने भाषा की निरर्थक कृत्रिमता का परिहार कर उसे अधिक से अधिक रमणीय एवं सहज-ग्राह्य स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की है। शब्दों की विकृति के सम्बन्ध में यद्यपि उन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा अपनी प्रवृत्ति का अत्यन्त अल्प प्रदर्शन ही किया है, तथापि कहीं-कहीं उनके द्वारा किया गया यह शाब्दिक अंग-भंग अतीव अनुपयुक्त एवं संगति-विरुद्ध भी हो गया है। 'तिच्छन', 'अरणी' तथा 'उप्पम' जैसे शब्दों का प्रयोग निश्चित रूप से इसी दिशा की ओर संकेत करता है। हमारे विचार से इस प्रकार के प्रयोगों से कवि के उत्कृष्ट एवं गम्भीर भावों का अर्थ-गौरव भी प्रायः विनष्ट हो गया है।

'कवितावली' में कवि ने प्रकृति के निसर्ग स्वरूप का निकट से अध्ययन करने के उपरान्त उसे अपने संश्लिष्ट चित्रों में अत्यन्त कौशलपूर्वक उभारा है। वास्तव में उन्होंने अभिव्यंजना की जिस प्रणाली को मूल रूप में स्वीकार किया है, वह किसी निश्चित योजना के अनुसार अथ से इति तक एक विशिष्ट गति में आबद्ध है और यही कारण है कि उसमें कथा-क्रम को भी समय-समय पर उचित विकास प्रदान किया गया है। रस-योजना के अन्तर्गत भी कवि ने इस ग्रन्थ में प्रत्येक रस का अत्यन्त मनोरम विधान किया है। राम की शैशव-कालीन श्री और शोभा का उल्लेख करने के अनन्तर कवि ने उनकी विविध मुग्धकारी क्रीड़ाओं को भी पूर्णतः मूर्त्त रूप प्रदान किया है। शिशु के सरल सौन्दर्य का अंकन करते समय बाल-मनोविज्ञान के अनन्य आचार्य महाकवि सूरदास की भाँति वह भी भाव-विभोर

हो उठे हैं। राम की प्रत्यूषकालीन सजग सुषमा का कवि ने इस प्रकार उल्लेख किया है:—

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि,
मंजु बनी मनिमाल हिये।
नव नील कलेवर पीत झंगा,
झलकैं पुलकैं नृपु गोद लिये॥
अरविन्द सो आनन रूप मरन्द,
अनन्दित लोचन भृंग पिये।
मन में न बस्यो अस बालक जौ,
'तुलसी' जग में फल कौन जिये॥

कविवर तुलसीदास जी ने 'कवितावली' में श्रृंगार रस के संयोग-पक्ष की अभिव्यंजना उपस्थित करते समय माधुर्य एवं वात्सल्य का विशेष ध्यान रखा है। पाणिग्रहण के युग-प्रवर्ती अवसर पर नव-वधू के कोमल हृदय में प्रिय-दर्शन की मनोरम भावना अत्यन्त मदिर रूप में वर्तमान रहती है, किन्तु शील, संकोच एवं नारी-सुलभ सरल व्रीड़ा-भावना से परिवेष्टित होने के कारण उसकी यह मधुर कामना अनभिव्यक्त अथवा अपूर्ण ही रह जाती है। तुलसी ने नारी की इस मृदु अभीप्सा को भली प्रकार हृदयंगम किया है और तत्पश्चात् अपनी सर्वग्राही सफल प्रतिभा के आधार पर उसे निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

दूलह श्री रघुनाथ बने,
दुलही सिय सुन्दर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि,
वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी,
कंकन के नग की परछाहीं।

या तें सबै सुधि भूलि गई,
कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

निश्चय ही उपर्युक्त परिस्थिति-चित्र को इतने सहज रूप में उपस्थित कर सकने की क्षमता केवल जन-कवि तुलसीदास में ही थी। रीतिकालीन कवियों के क्षेत्र में पहुँचकर इसी भाव-धारा की गति न जाने किस ओर परिवर्तित हो उठती !!

काव्य के मर्यादा-पक्ष का वांछित रीति से निर्वाह करने में तुलसी सदैव सतर्क रहे हैं। वन-पथ पर विलम्ब तक अनुगमन के कारण सीता जी स्वभावतः ही परिश्रान्ति का अनुभव करने लगती हैं। उस समय कवि ने भारतीय संस्कृति के अनुकूल पारिवारिक गरिमा की रक्षा करते हुए उक्त अवस्था का इस प्रकार चित्रण किया है :—

जल को गये लक्खन हैं लरिका,
परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु,
पांय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
'तुलसी' रघुवीर प्रिया श्रम जानि कै,
बैठि विलम्ब लौं कण्टक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो,
पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े ॥

उनके परवर्ती रसिक कवि केशव ने वातावरण की इस पावन महत्ता को विस्मृत कर श्रृंगार के वासनात्मक स्वरूप के अवलम्बन द्वारा चित्र की समग्र दिशा को ही दूसरी ओर अभिप्रेरित कर डाला। वास्तव में उन्होंने श्रेय के उपस्थित आदर्श का परित्याग कर प्रेय के मोहक/अंश को स्वीकार कर अच्छा नहीं किया :—

मग को श्रम श्रीपति दूर करें,
सिय को शुभ वाकल अंचल सों।
श्रम तेउ हरें तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृगंचल सों॥

(रामचन्द्रिका)

इसी प्रकार कवि ने 'कवितावली' के अन्य स्थानों पर भी इसी कोटि के सद्भावनापूर्ण शालीन चित्र प्रस्तुत किये हैं। वन-मार्ग में सीता और ग्राम-वधुओं का सरल सम्भाषण भी अपनी पृथक् विशिष्टता रखता है। वास्तव में इस प्रसंग को लेकर कवि ने संपूर्ण राम-कथा में एक अनिर्वचनीय सरसता का उद्भावन किया है। शृंगार रस के दृष्टिकोण से भी यह वर्णन उनके समग्र काव्य में सर्वोत्कृष्ट है। 'रामचरित मानस' में कवि ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है:—

कोटि मनोज लजावनि हारे,
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ?
सुनि सनेह मय मंजुल बानी,
सकुचीं सिय मन महुँ मुसुकानी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी,
बोली मधुर वचन पिक बैनी।
तिन्हहिं विलोक बिलोकति धरनी,
दुहुँ संकोच सकुचति बर बरनी॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे,
नाम लखन लघु देवर मोरे॥

'कवितावली' में भी कवि ने उक्त प्रकरण को प्रकारान्तर से लगभग इसी प्रकार उपस्थित किया है। इन दोनों वर्णनों में वस्तुतः किसी मौलिक भेद की आवश्यकता भी नहीं थी :—

सीस जटा उर बाहु विशाल,
बिलोचन लाल तिरीछी-सी भौहैं ।
तून सरासन बान धरे,
बन मारग में 'तुलसी' सुठि सोहैं ।।

सादर बारहिं बार सुभाय,
चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्राम वधू सिय सों,
'कहो साँवरे-से सखि रावरो को हैं ?'

सुनि सुन्दर बैन सुधा-रस साने,
सयानी हैं, जानकी जानि भली ।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हें,
समुझाइ कछू मुसकाइ चली ।।

तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै,
अवलोकति लोचन लाहु अली ।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै,
बिगसीं मनो मंजुल कंज-कली ।।

'कवितावली' में कवि ने अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को उत्कर्ष-दान देने का प्रयत्न किया है । उन्होंने अपनी भावुकता एवं आत्मा की उज्ज्वलता को एक ऐसे रमणीय रूप में उपस्थित किया है कि उनके समस्त काव्य में व्यक्ति की चेतनापरक वृत्तियों को उद्बुद्ध कर सकने की एक अद्भुत क्षमता का प्रवेश हो गया है। इस प्रकार के अमृतमय उपकरणों से सन्निविष्ट होने के कारण उनकी कविता का प्रत्येक चरण अध्येता को एक नवीन सन्देश प्रदान करता हुआ चलता है । हास्य रस की अवतारणा करते समय कवि ने तपस्वी जीवन की एक अव्यक्त अनुभूति को इस प्रकार प्रकट किया है :—

बिंध्य की वासी उदासी तपोव्रतधारी,
महा बिनु नारी दुखारे ।
गौतम, तीय तरी, तुलसी, सो कथा,
सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे ॥
ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी परसे,
पद-मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली, रघुनायक जू करुना,
करि कानन को पगु धारे ॥

तुलसी ने अपने काव्य में समाज के शीर्ष अथवा पद-स्थान में अवस्थित व्यक्ति मात्र के प्रति समान सन्देश का प्रसारण किया है। वस्तुतः उन्होंने प्रत्येक आत्मा में उसी एक चिरन्तन सत्ता के अविलम्ब दर्शन प्राप्त किये हैं और यही कारण है कि उनके काव्य में कण-कण में अनादि रस के प्रलम्ब स्रोत का निरवधिक रूप से निरन्तर प्रवाह हो रहा है और उनकी वाणी के मृदु स्वर सृष्टि के अणु-अणु में गम्भीर प्रतिगुंजन का प्रसार कर रहे हैं।

आधुनिक काल में प्रगतिवादी साहित्यकार शोषितों के युग-रुदन की व्याख्या-मात्र से ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ रहे हैं। उसकी पृष्ठभूमि में अवस्थित द्वितीय विचारधारा की गहन भाव-भूमि की ओर उनका ध्यान रंच-मात्र भी आकृष्ट नहीं हुआ। हमारी धारणा है कि उन्होंने केवल विभेदात्मक परिस्थितियों को ही ग्रहण किया है और इसी एकांगी निर्धारण के कारण उनका पक्ष समय के साथ-साथ निर्बल पड़ता जा रहा है। इस दिशा में अमर साहित्य-स्रष्टा गोस्वामी तुलसीदास जी ने केवट और राम के सम्वाद को लेकर जिस शाश्वत भाव-राशि की अभिव्यक्ति की है, वह अनिवार्य रूप से साहित्य के क्षेत्र में एक पृथक् चरण की स्थापना करती है। हमारे प्रगतिवादी साहित्यिक बन्धुओं का अन्तिम लक्ष्य भी समाज की इन युगल इकाइयों में इसी प्रकार के एक आत्मिक

सम्बन्ध की स्थापना होना चाहिए। तुलसी के निम्नांकित शब्द निश्चय ही जन-जन को एक नवीन अनुप्रेरणा प्रदान करने की गम्भीर क्षमता से युक्त हैं :—

रावरे दोषु न पायन को,
पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन-बाहनु काठ को,
कोमल है, जलु खाइ रहा है॥
पावन पांय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं,
आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन,
हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

: १२ :

# जमाल का भावपूर्ण काव्य

अकबर के समकालीन कवि जमाल का जन्म विक्रमी संवत् १६०२ में हरदोई जिले में गोमती-तट पर स्थित पिहानी नामक ग्राम में हुआ था। राजस्थान में उनके साहित्य का व्यापक प्रचार होने के कारण बीकानेर के प्रो० नरोत्तमदास स्वामी ने भ्रमवश उनकी गणना राजस्थानी कवियों के अन्तर्गत कर ली है, किन्तु वास्तव में वह उत्तरप्रदेशीय हैं। श्री महावीरसिंह गहलोत ने उनके रचना-प्रकार के आधार पर उक्त मत को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। हम भी गहलोत जी की धारणा से सर्वांशतः सहमत हैं।

जमाल के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि सम्राट् अकबर ने उनके काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर हाथी पर छत्र-सहित उनकी सवारी निकालने और साथ ही स्वर्ण की अमित राशि की वृष्टि करने की व्यवस्था की थी। इस प्रकार कवि को यश की प्राप्ति तो यथेष्ट रूप में हुई, किन्तु धन की उपलब्धि से वह सर्वथा वंचित रहे। कहते हैं कि उस समय जमाल ने स्मरण दिलाने के हेतु सम्राट् के समक्ष निम्नलिखित छन्द पढ़ा था :—

जमला अकबर कर ग्रहे, बरसत कंचन नीर।
हम सिर छत्र दलिद्र का, बूंद न पड़त सरीर॥

कविवर जमाल सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त एक अत्यन्त रसिक वृत्ति के व्यक्ति थे। आर्थिक विषमताओं से समावृत्त होने पर भी साहित्य

की एकान्त साधना को उन्होंने अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया था। उनके रस-स्नात व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निश्चय ही यह दोहा उल्लेखनीय है जिसमें अन्तिम इच्छा के रूप में उन्होंने अपनी गोर (कब्र) बनाने की चर्चा की है :—

करज्यो गोर जमाल की, नगर कूप के माँय ।
मृगनैनी चपला फिरें, पड़ै कुचन की छाँय ।।

कवि के इस पद को पढ़ते ही हमें रसिक कवि केशव की वह उक्ति स्मरण हो आती है, जिसमें वार्द्धक्य के आगमन पर वह चीत्कार कर उठे थे:—

केसव केसन अस करि, जस अरिहु न कराहिं ।
चन्द्रवदनी मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं ।।

श्रृंगार रस का चित्रण करते समय यद्यपि जमाल ने उसके संयोग और वियोग, दोनों ही पक्षों का आश्रय ग्रहण किया है, तथापि संयोग-पक्ष का विधान करते समय उनकी वृत्तियाँ कहीं अधिक सफल हुई हैं। जल-प्लावन के समय जहाँ अन्य व्यक्तियों को विकलता की अनुभूति होती है, वहाँ उनकी अभिसारिका नायिका प्रिय के निःशंक मिलन की कल्पना कर आनन्द-विभोर हो उठती है :—

गलिन गलिन गरकि गई, गति गोमती की आज ।
विकल लोग यह तिय खुशी, कह जमाल किहि काज ।।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कवि ने अनुराग-स्थापन के कार्य में प्रेमी-युगल के नयनों और उनकी स्वाभाविक अन्तर्वृत्तियों की महत्वपूर्ण गति का निम्नलिखित शब्दों में मनोरम उद्घाटन किया है:—

नैन मिलैं तें मन मिलैं, होई साट दर हाल ।
इह तो सौदा सहज का, जोर न चलत जमाल ।।

प्रेम की इस सहज अन्वति के अनन्तर प्रेमियों की सौन्दर्य-बोध की

शक्ति समष्टि रूप में निर्बाधित गति से विकास की ओर प्रेरित होती चली जाती है और उनकी आत्मगत रमणीयता दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक निखार को प्राप्त होती रहती है। प्रेम की इस अनुप्राणना के पश्चात् जमाल ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उसके उस चरम आदर्श रूप का प्रतिपादन किया है जो सम्पूर्ण विश्व में अपने प्रकार का अप्रतिम उदाहरण है :—

जमला ऐसी प्रीत कर, जैसी हिन्दू जोय।
पूत पराये कारणै, जलबल कोयला होय॥

शृंगार के चित्रण के अनन्तर कवि ने अपनी विशद सांसारिक अनुभूति के आधार पर भक्ति के निर्गुण और सगुण, दोनों ही पक्षों को साकार रूप प्रदान करने की सफल चेष्टा की है। वास्तव में उनके काव्य में कबीर के ब्रह्म और रसखान के कृष्ण, दोनों ही का उत्कृष्ट समन्वय उपलब्ध होता है। निर्गुण के तत्व-चिन्तक उपासकों की भाँति उन्हें भी सर्वप्रथम संसार के नश्वर स्वरूप की ही अनुभूति होती है :—

जग-सागर है अति गहर, लहरि विषैं अति लाल।
चढ़ि जहाज अति नाव की, उतरें पार जमाल॥

जिस प्रकार शैल-श्रेणियों में पद-पद पर रत्न-राशि की स्थिति होती है, उसी प्रकार विश्व में सर्वत्र ब्रह्म की व्याप्ति रहती है, किन्तु ज्ञान के अभाव में उसका परिचय प्राप्त करना असम्भव जानकर साधक अविद्या को नष्ट कर विद्या-प्राप्ति के लिए गुरू के अन्वेषण में निकल पड़ता है:—

सब घट माँही राम है, ज्यौं गिरिसुत में लाल।
ज्ञान-गुरु चकमक बिना, प्रकट न होत जमाल॥

गुरु द्वारा अनन्त साधना और अविरत प्रेम के आदेश को प्राप्त कर साधक उसी मार्ग पर अग्रसर होता है। इसका मूल कारण यही है कि उस दिव्य शक्ति के दर्शन प्रत्येक व्यक्ति को न होकर केवल अधिकारी साधकों को ही उपलब्ध होते हैं:—

कर घूँघट जग मोहिए, बहुत भुलाए लाल।
दरसन जिनें दिखाइयाँ, दरसन जोग जमाल॥

गुरु के आदेश पर आचरण करते हुए कवि ने शरीर को भट्टी, मन को मदिरा-विक्रेता (कलाल) और चक्षुओं को चषक बनाने का संकल्प किया, जिससे साध्य उनकी भावनाओं की सत्यता और गम्भीरता को परखने के लिए उनके अन्तर में केन्द्रीभूत प्रेम-तत्व का पूर्ण रसास्वादन कर सके--

या तन की भट्टी करूँ, मन कूँ करूँ कलाल।
नैणाँ का प्याला करूँ, भर-भर पियो जमाल॥

प्रेम की इस अवस्था-परिणति के अनन्तर साधक को उसके सामान्य आलम्बन 'मिलन' की आवश्यकता ही नहीं रहती और साध्य के स्मरण-मात्र से ही उसके मानस में हर्ष का उद्रेक होता है। उस समय उसके अन्तर में शान्ति का चिरस्थायी वास होता है और उसकी सम्पूर्ण भावनाएँ उस परम शक्ति के दिव्य सन्देश से अभिमन्त्रित होती हैं। वास्तव में रहस्यवाद की चरम स्थिति भी यही है:—

मिलै प्रीत मन होत है, सब काहु कै लाल।
बिना मिलें मन में हरष, साँची प्रीत जमाल॥

निर्गुण की भाँति सगुण पक्ष का प्रतिपादन करते समय भी कविवर जमाल को पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। सगुण भक्ति का वर्णन करते समय उन्होंने कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय का आश्रय ग्रहण किया है। अपने उपास्य देव के मनोहर गोप-वेश का स्तव-गान करते हुए कवि कहता है:—

मोर मुकट कटि काछनी, मुरली शबद रसाल।
आवत है बनि विमल कै, मेरे लाल जमाल॥

कृष्ण की मुरली के मधुर स्वर में गायन-प्रवीण गन्धर्व जाति को भी मन्त्र-मुग्ध कर देने की शक्ति अन्तर्हित है। कृष्ण-चरित के इस मनोरम स्वरूप को सूरदास, नन्ददास और रसखान जैसे सभी महाकवियों ने

स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है। कविवर जमाल की गोप-वधुएँ भी उस आनन्द-रस का आह्वान करने को सदैव प्रस्तुत रहती हैं :—

बंसी बाजै लाल की, गन गन्धर्व बिहाल।
गृह तजि-तजि तहँ कुल बधू, स्रवनन सुनत जमाल॥

कवि को आश्चर्य है कि विभिन्न प्रकार से आराधना करने पर भी भक्तों को जिन ब्रजचन्द्र कृष्ण के दर्शनों की उपलब्धि नहीं होती, वही किस विधि से नन्द के अजिर में स्वयं क्रीड़ा कर रहे हैं:—

विधि-विध कै सब विधि जपत, कोऊ लहत न लाल।
सो विधि को विधि, नन्द घर खेलत आप जमाल॥

आराध्य के सम्मुख अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते समय जमाल ने अत्यन्त मधुर वातावरण की अवतारणा की है। विनय-भावना का उल्लेख करते समय भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। भक्त-वत्सल होने पर भी पार्थक्य की परिस्थितियों को नष्ट न करने के कारण कृष्ण निश्चय ही कवि के उपालम्भ के लक्ष्य हैं :—

हरै पीर, तापै हरी, बिरद कहावत लाल।
मो तन में वेदन भरी, सो नहिं हरी जमाल॥

शृंगार और भक्ति की भाँति कविवर जमाल ने नीति-भावना की सात्विक सुषमा को भी अपने कतिपय दोहों में स्थान प्रदान किया है। नीति-परक विचार-सरणि की आयोजना करते समय संसार के सूक्ष्म अन्तर्दर्शन और गहन चिन्तन की परम आवश्यकता होती है। जमाल ने इस विषय में अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देते हुए अनेक शाश्वत धारणाओं का सफल उद्घाटन किया है। उनके इस कोटि के दोहों में कबीर, रहीम और वृन्द के नीति-दोहों के समान स्थिर भाव-विभूति के उत्कृष्ट दर्शन होते हैं। कवि के अनुसार मन-रूपी मलिन वस्त्र को निर्मलता प्रदान करने के लिए सत्य के साबुन का व्यवहार करना चाहिए। प्रेम-सलिल की एक बूँद के

स्पर्श-मात्र से ही यह समस्त मलिनता खंड-खंड होकर समाप्त हो जाएगी :—

जमला कपड़ा धोइए, सत का साबू लाय ।
बूँद जो लागी प्रेम की, टूक-टूक हो जाय ।।

महाकवि बिहारी की भाँति कविवर जमाल ने अपने दोहों में मुक्तक शैली के अनुसार बिन्दु में सिन्धु की आयोजना करने का सफल प्रयत्न किया है। वास्तव में उन्होंने ब्रजभाषा की मधुर एवं रमणीय पदावली के आधार पर अपनी स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण शैली में सौन्दर्य तथा प्रेम का अत्यन्त मूर्त्त अंकन किया है। उनके साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कूट-परम्परा का विधिवत् अनुसरण करते हुए उच्च श्रेणी के रीतिबद्ध काव्य की रचना की है। हमारा विश्वास है कि साहित्य की श्री-वृद्धि में उन्होंने जितना भी योग-दान दिया है, वह सर्वथा स्तुत्य एवं चिरस्मरणीय है ।

: १३ :

# बिहारी के काव्य का कला-पक्ष

'कला' से हमारा तात्पर्य कवि की उस कुशल अभिव्यंजना-शक्ति से है जिसका आधार ग्रहण कर वह अपनी आत्मा की अनुभूति को साकार रूप प्रदान करता है। सृष्टि में व्याप्त विभिन्न सौन्दर्यात्मक उपकरणों को सहजानुभूति द्वारा प्रतिफलित करने के लिए कवि जिन साधनों का उपयोग करता है वही कला के प्रमुख तत्व हैं और बिहारी के काव्य के कला-पक्ष की चर्चा करते समय हम इन्हीं तत्वों के आधार पर उनके काव्य का परीक्षण करेंगे।

रीतिकालीन काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय अधिकांश साहित्यकार कवि-कर्म की अपेक्षा आचार्यत्व की ओर अधिक उन्मुख थे और प्रायः वह अपनी साहित्य-रचनाओं में काव्य-रचना और काव्य-शास्त्र-रचना को साथ-साथ महत्व प्रदान करते थे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप रीतिकाल में काव्य के कला-पक्ष के प्रति कवियों की सदैव सजग दृष्टि रही है। यद्यपि बिहारी ने देव, मतिराम, चिन्तामणि, और पद्माकर आदि अपने समकालीन कवियों की भाँति आचार्य-कर्म का निर्वाह नहीं किया है, तथापि उन्होंने अपने काव्य में सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिए कला-वैभव का तत्कालीन रुचि के अनुकूल ही उपयुक्त और प्रौढ़ संयोजन अवश्य किया है।

## चित्र-सृष्टि

### (१) रूप और गति का संतुलित संयोजनः—

भाव की अरूप सता को रूप प्रदान करने के लिए चित्र-सृष्टि में प्रवृत्त होना कवि के लिए सबसे अधिक सहज है। बिहारी ने इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए अपने काव्य में विविध भावों को सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से उनके काव्य में निम्नलिखित प्रकार के सौन्दर्य-चित्र उपलब्ध होते हैं:–

(अ) नर-सौन्दर्य के प्रतीक श्रीकृष्ण के भाव-सम्बन्धी चित्र।

(ब) नारी-सौन्दर्य की प्रतीक राधा और विभिन्न गोपिकाओं के भावों को अभिव्यंजित करने वाले चित्र।

(ज) प्राकृतिक छवि की आंशिक अभिव्यक्ति और आध्यात्मिक अनुभूति से सम्बद्ध चित्र।

महाकवि बिहारी ने अपनी 'सतसई' में इन चित्रों को उपस्थित करते समय सम्बन्धित व्यक्ति अथवा पदार्थ के रूप और काव्य-गति में अनेक स्थानों पर सुन्दर सन्तुलन की योजना की है। कहीं-कहीं उन्होंने वर्ण्य को भी विविध गतियों से प्रेरित दिखाकर विशिष्ट चमत्कार और आकर्षण की सृष्टि की है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी काव्य-नायिका के रूप का अंकन करते समय उन्होंने उसकी विभिन्न गति-विधियों का भी काव्य की दृष्टि से नितान्त गतिमय अंकन किया है :—

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि॥

### (२) संश्लिष्ट चित्रणः—

बिहारी ने अपने काव्य में सौन्दर्य के स्थिर और गत्यात्मक, दोनों ही प्रकार के चित्र अंकित किये हैं। इन चित्रों में उन्होंने संश्लिष्ट और विश्लिष्ट, दोनों ही प्रणालियों को स्वीकार किया है। संश्लिष्ट चित्रों में

उन्होंने वातावरण के सूक्ष्म और समष्टिगत चित्र अंकित किये हैं तथा विश्लिष्ट चित्रों में परिस्थिति का विश्लेषणात्मक रूप चित्रित किया है। आगे हम इन दोनों से सम्बद्ध उनके दो उत्कृष्ट पद उद्धृत करते हैं :—

(अ) संश्लिष्ट चित्रण:—

अहे, दहेंड़ी जिन धरै, जिनि तू लेहि उतारि।
नीकैं है छींके छुवै, ऐसे ही रहि नारि॥

(ब) विश्लिष्ट चित्रण :—

अपने अंग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ, बड़ौ इजाफा कीन्ह॥

(३) **वर्ण-परिज्ञान**:—

चित्रकार की भाँति परिस्थिति-चित्र अंकित करने वाले कवि के लिए भी वर्ण-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। बिहारी ने अपने कुछ दोहों में रंगों के मिश्रण और रूप-रंग के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्रकट किया है। उन्होंने वर्णों के केवल स्थूल दृश्य-रूप का ही उल्लेख नहीं किया है, अपितु उनकी आत्मा के विषय में अपने सूक्ष्म ज्ञान को भी प्रकट किया है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए:—

मेरी भव-बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परैं, स्यामु हरित दुति होय॥

(४) **ध्वनि-चित्रण**:—

अंग्रेजी की प्रसिद्ध उक्ति Sound echoes the sense के अनुसार नाद में अर्थ को प्रतिध्वनित करने की शक्ति होती है। यह प्रतिध्वनि अथवा ध्वनि-चित्रण अर्थ और वाणी के स्वरैक्य पर आश्रित रहता है। यद्यपि बिहारी के काव्य में इस प्रवृत्ति को अधिक व्यापक स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि कहीं-कहीं ध्वनि-चित्र नितान्त सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहर-

णार्थ निम्नलिखित छन्द में 'न' की ध्वनि और अनुस्वार के प्रयोग द्वारा कवि ने वातावरण में एक विशेष माधुर्य की सृष्टि कर दी है :—

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु ।
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज समीरु ॥

## अलंकार-प्रयोग

बिहारी ने अपनी भाव-साधना को उज्ज्वलता प्रदान करने के लिए अपनी 'सतसई' में अलंकारों का व्यापक प्रयोग किया है। उनके दोहों में अलंकरण सामग्री का वैभव पूर्ण रूप से वर्तमान है और जहाँ उन्होंने भाषा-शैली को सज्जित करने के लिए अनुप्रास, यमक तथा श्लेष आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है, वहाँ भाव-सौन्दर्य की पुष्टि के लिए उपमा, रूपक, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा अन्योक्ति आदि अर्थालंकारों को प्रयुक्त किया है। आगे हम क्रमशः इन दोनों के उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

(१) भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार ।
दूर भजन जासौं कह्यो, सो तू भज्यो गँवार ॥

(यमक)

(२) जिन दिन देखे वै सुमन, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कंटीली डार ॥

(अन्योक्ति)

## छन्द-प्रयोग

बिहारी ने अपनी 'सतसई' में दोहा और सोरठा नामक मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने 'दोहा' जैसे छन्द में समास-शक्ति की उद्भावना करते हुए अपने काव्य को उत्कृष्ट अर्थ-गाम्भीर्य प्रदान किया है। उन्होंने अपने छन्दों में तुक-निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया है और नियमानुसार दोहे के द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में एवं सोरठे के प्रथम तथा तृतीय चरणों में तुक-संयोजना की है।

इन छन्दों में से उन्होंने 'दोहा' छन्द का ही अधिक मात्रा में प्रयोग किया है तथापि उनके सोरठे भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। यथा:—

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि, केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

बिहारी ने छन्द-शास्त्र के नियमों का यथासम्भव निर्वाह किया है और मात्रा-गणना तथा यति-विचार की दृष्टि से उनकी सभी दोहे प्रायः शुद्ध रहे हैं। यदि उनके किसी दोहे में मात्रा-विषयक व्यतिक्रम दृष्टि-गत भी होता है तो उन्होंने गति-नियम का पालन करते हुए उसे शुद्ध बना लिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे के प्रथम चरण में १४ मात्राएँ हैं, तथापि छन्द-गति में 'अटक्यो' में 'ट' वर्ण पर विशेष बल न होने के कारण उसकी एक मात्रा ही मानी जाएगी :—

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वै हैं फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥

### भाषा

बिहारी ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा में की है और उनका उस पर भी पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा माधुर्य और प्रसाद नामक गुणों से समन्वित है और भावों की अनुगमनकारिणी होने के कारण उसका विशेष महत्व है। शब्द-चयन की दृष्टि से उन्होंने ब्रज-भाषा के साथ-साथ संस्कृत, अरबी और फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। शब्दों के विविधतामय प्रयोग से उनके दोहों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों का भी स्वतः समावेश हो गया है।

बिहारी की प्रतिपादन-शैली सजीव और सरस है। मुहावरों और लोकोक्तियों के यथास्थान प्रयोग द्वारा उन्होंने इस सजीवता का अत्यन्त उत्कृष्ट संयोजन किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे में मुहावरे का सुष्ठु प्रयोग देखिए:—

चितु तरसतु, मिलत न बनतु, बसि परोस कैं बास ।
छाती फाटी जाति सुनि, टाटी ओट उसास ॥

प्रामाणिक प्रति के अभाव में 'बिहारी सतसई' की विभिन्न प्रतियों में पाठ-भेद की स्थिति सर्वत्र वर्तमान रही है। इसी कारण व्याकरण की दृष्टि से उसके शब्दों के भी अनेक रूप उपलब्ध होते हैं तथापि 'बिहारी-रत्नाकर' में इस दोष के निवारण का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का संस्कार करने वाले कवियों में बिहारी का प्रमुख स्थान है। उनके शब्दों में अर्थ का स्वतः भावन करने की शक्ति निहित है। वास्तव में मुक्तक काव्य के क्षेत्र में अर्थ-गाम्भीर्य का सफल आयोजन उन्हीं की प्रतिभा का कार्य है। इसी कारण उनके काव्य के विषय में यह सूक्ति प्रसिद्ध है :—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥

: १४ :

# 'साकेत' में नायक कौन है ?

संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री धनंजय ने अपने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ में 'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः' इत्यादि कहकर नायक (नेता) के गुणों की ओर स्पष्ट निर्देश किया है। उनके अनुसार नायक के व्यक्तित्व में विनय, मधुरता, दक्षता, प्रियभाषिता, परम्परागत पवित्रता, स्थिरता, बुद्धि, उत्साह, कला, शौर्य, तेजस्विता और शास्त्र-विहित धर्म-भावना का अविकल समावेश रहना चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि अनिवार्य न होने पर भी इनमें से अधिकांश गुण नायक के लिए अपेक्षित हैं। वास्तव में नेता के व्यक्तित्व में कथा के सभी सूत्र केन्द्रित रहने चाहिएँ और उसके द्वारा कथा का सम्यक् विकास होना चाहिए।

'साकेत' में नायिका की स्थिति का प्रश्न नितान्त विवादास्पद है। इस विषय में हमें निम्नलिखित तीन मत प्राप्त होते हैं:—

(१) 'साकेत' में अन्य-राम-काव्यों की भाँति राम को ही नायक के रूप में उपस्थित किया गया है। यथा:—

"लक्ष्मण और उर्मिला इस प्रबन्ध-काव्य के नायक-नायिका नहीं हैं। गुप्त जी का प्रयत्न तो यही रहा है कि वह इस युग्म को अपने काव्य के

नायक-नायिका बनावें पर उनके आराध्य राम इसके नायक बन बैठे हैं।"

—श्री विश्वम्भर 'मानव'

(खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थ, पृष्ठ १६५)

(२) 'साकेत' में भरत को नायक का पद प्रदान किया गया है। यथाः—

"उर्मिला और भरत का नायकत्व स्वीकार कर 'साकेत' में पहले-पहल महाकाव्य की वीर-रस-प्रधान पद्धति की उपेक्षा की गई है।"

—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४६)

(३) 'साकेत' एक नायिका-प्रधान काव्य है और इसमें नायक के स्थान पर नायिका उर्मिला के व्यक्तित्व को अधिक व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। इस मत का समर्थन डा० नगेन्द्र ने किया है।

हम उपर्युक्त मतों में से तृतीय मत को ही उपयुक्त मानते हैं। इस दृष्टि से उर्मिला 'साकेत' की नायिका है और पति-पत्नी-सम्बन्ध के कारण लक्ष्मण इस काव्य के नायक हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र, दोनों ने ही इस काव्य में उर्मिला की प्रमुखता को स्वीकार किया है। श्री विश्वम्भर 'मानव' ने 'आर्य सभ्यता की प्रतिष्ठा' को 'साकेत' का 'कार्य' माना है और इस दृष्टि से उसके प्रतिष्ठापक राम को काव्य का नायक कहा है, किन्तु वास्तव में यह मत केवल प्राचीन परम्पराओं में विश्वास का द्योतक है। नवीन परिवर्तित दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य में 'उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन' कार्य है और चरित्र-प्रधान काव्य होने के कारण इसमें उर्मिला के चरित्र को सर्वाधिक अभि-व्यक्ति प्राप्त हुई है। इस प्रकार प्रमुख पात्र होने पर भी राम इस काव्य के नायक नहीं हैं।

उर्मिला को 'साकेत' की नायिका का यह पद प्रदान करने के निम्न-लिखित कारण हैं:—

(१) गुप्त जी ने अन्य पात्रों के प्रति श्रद्धा-भाव रहने पर भी 'साकेत' में उर्मिला के चरित्र को मुख्य स्थान प्रदान किया है और इस दृष्टि से नवम सर्ग की योजना केवल 'उर्मिला' के लिए ही की है। अतः कवि का अन्त-र्साक्ष्य उर्मिला को नायिका मानने में सबसे अधिक सहायक रहा है।

(२) काव्य में प्रमुख पात्र फलागम का भोक्ता होता है। 'साकेत' में 'उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन' कार्य है और उर्मिला साधना द्वारा अन्त में मिलन के आनन्द को प्राप्त कर लेती है। अतः फलागम का भोग करने के कारण वही नायिका है।

(३) उर्मिला के व्यक्तित्व में 'दश-रूपक' में निर्दिष्ट सभी कोमल गुणों की व्याप्ति हुई है और कवि ने उसे केवल नायक के वीरत्व की भावना से ही पृथक् रखा है।

(४) नायक पर कवि का ध्यान निरन्तर केन्द्रित रहना चाहिए। गुप्त जी ने स्थान-स्थान पर राम के महत्व का गान किया अवश्य है, किन्तु उनका ध्यान उर्मिला पर ही केन्द्रित रहा है। इसी कारण 'साकेत' में उन्होंने एक ओर तो सभी घटनाओं में नायिका के चरित्र की अन्विति रखी है और दूसरी ओर सभी पात्रों को उर्मिला के त्याग और करुण जीवन की चर्चा करते हुए दिखाया है।

(५) नायक काव्य के मूलवर्ती रस का प्रमुख माध्यम होता है। 'साकेत' में करुण रस से पुष्ट विप्रलम्भ शृंगार रस मुख्य है और उसका सम्बन्ध स्पष्टतः उर्मिला से रहा है। अतः इस दृष्टि से भी वह काव्य की नायिका है।

(६) यद्यपि यह सत्य है कि गुप्त जी ने श्रद्धा-भाव से प्रेरित होकर राम और भरत के चरित्रों को भी अत्यन्त कौशलपूर्वक उपस्थित किया

है और उनके महत्व को स्थान-स्थान पर गरिमापूर्वक स्वीकार किया है तथापि कवि का अभीष्ट इस काव्य को अन्य राम-काव्यों से भिन्न रूप में उपस्थित करना रहा है और केवल कवि के श्रद्धा-पात्र होने के करण ही राम अथवा भरत को काव्य का नायक नहीं माना जा सकता। कवि ने 'साकेत' की सभी घटनाओं को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से उर्मिला से सम्बद्ध रखा है और कहीं-कहीं असफल होने पर भी प्रायः वह इस घटना-निबन्धन में सफल ही रहा है।

'साकेत' में उर्मिला के चरित्र को नायिका के रूप में उपस्थित करने में गुप्त जी को सफलता और असफलता, दोनों की ही प्राप्ति हुई है। जहाँ उर्मिला विभिन्न आभिजात्य गुणों से युक्त है, वहाँ भावनात्मक आदर्शवाद के अतिरेक के कारण कहीं-कहीं उसके चरित्र की उदात्तता नष्ट भी हुई है अर्थात् उर्मिला के आदर्श त्याग को व्यंजित करने के लिए कवि ने अत्यधिक भावुक होकर कहीं-कहीं ऐसी उक्तियाँ भी उपस्थित कर दी हैं जो उसके गौरव के अनुरूप नही हैं। इसी कारण 'साकेत' में उर्मिला का व्यक्तित्व 'रामचरित मानस' की सीता के सौम्य सौन्दर्य-चित्रण तथा 'कामायनी' की श्रद्धा के सूक्ष्म कल्पनात्मक सौन्दर्य-अंकन से कहीं-कहीं भिन्न हो गया है। उदाहरणार्थ उर्मिला की निम्नलिखित उक्ति में नायिका के गौरव का अभाव देखिए:—

मेरे चपल यौवन बाल !
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल ॥

उर्मिला के नायिका-रूप का अध्ययन करने पर हम इसमें गुप्त जी के मौलिक दृष्टिकोण के निम्नलिखित दो रूप पाते हैं :—

(१) सामाजिक परिवर्तन :—

गुप्त जी के पूर्ववर्ती राम-काव्यों में कवियों ने अपने युग की सामाजिक स्थिति के अनुकूल वीर-भाव को पोषित करने वाले विराट् पात्र राम को नायक बनाया है, किन्तु गुप्त जी ने वर्तमान सामाजिक दृष्टिकोण के

अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-मर्यादा के स्वतन्त्र संरक्षण पर बल देते हुए उर्मिला जैसी उपेक्षिता पात्री को नायिका का पद प्रदान किया है। यह वर्तमान युग के नवीन सामाजिक जीवन-दर्शन के प्रभाव का परिचायक है।

(२) साहित्यिक दृष्टि:—

सामाजिक दृष्टि में परिवर्तन के साथ-साथ 'साकेत' में कवि ने साहित्यिक दृष्टि से भी अन्तर का विधान किया है। इसमें महाकाव्य की प्राचीन मर्यादाओं की नवीन रीति से व्याख्या की गई है। यही कारण है कि इसमें धीरोदात्त नायक के स्थान पर कोमल-कमनीय नायिका को मूल महत्व प्रदान किया गया है और महाकाव्य की वीर रस-प्रधान प्रणाली का त्याग किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साकेत' नायिका-प्रधान महाकाव्य है और इसमें उर्मिला को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'साकेत' के विषय में लिखा है कि इसमें कवि ने 'महाकाव्य की पद्धति के विरुद्ध साधु भरत को नायक और वियुक्ता उर्मिला को नायिका बनाया है।' कवि की मूल भावना पर विचार करने पर भरत के भाव-प्रतिपादन को नायक के अनुरूप होने पर भी उन्हें नायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह उर्मिला के पति नहीं हैं। गुप्त जी निश्चय ही नायक-नायिका की पति-पत्नी वाली प्राचीन मर्यादाकी रक्षा करना चाहते थे। अत: उन्होंने 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र को भी नवीन रीति से उपस्थित किया है। वास्तव में इस काव्य में 'नायक' का अर्थ मूल पुरुष-पात्र से कुछ भिन्न लेना होगा और लक्ष्मण को नायक कहते समय उर्मिला के नायिका-पद को नायक के पद से अधिक महत्व-सम्पन्न मानना होगा। अत: नायक होने पर भी लक्ष्मण का स्थान इस काव्य में गौण है और उर्मिला के चरित्र की व्यापक अभिव्यक्ति उपस्थित करने के कारण यह काव्य नायिका-प्रधान है।

: १५ :

# 'यशोधरा' में सम्यक् सम्बुद्ध

भारतीय दर्शन के सांस्कृतिक वृत्त का परिग्रहण करते हुए कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ग्राम्या' की एक कविता में अपने अभिनव उन्मेष द्वारा जन-जीवन के प्रथम प्रतिनिधि राम और कृष्ण के मध्य एक सहज समत्व सम्बन्ध की अवतारणा की है। वह कहते हैं :—

श्री राम रहे सामन्त काल के ध्रुव प्रकाश,
पशु-जीवी युग में नव कृषि-संस्कृति के विकास।
बाल्मीकि बाद आये श्री व्यास जगत-वंदित,
वह कृषि-संस्कृति का चरमोन्नत युग था निश्चित।
बन गए राम तब कृष्ण भेद मात्रा का मित,
वैभव युग की वंशी से कर जग-मन मोहित॥

गुप्त जी ने कविवर पन्त के इस उद्भावन की मौलिक वृत्ति को और भी अधिक सम्पोषण प्रदान करते हुए राम की सर्वग्राही तथा आदर्श प्रतिभा में सम्यक् सम्बुद्ध की व्यक्ति-चेतना को भी समाहारित कर दिया है। उन्होंने अपनी समन्वयशील तथा साधनामूलक अन्तर्चेतना का आधार ग्रहण कर 'राम' और 'अमिताभ' को पर्यायवाची शब्द-युग्म के रूप में स्वीकार करते हुए स्पष्टतः कहा है:—

राम, तुम्हारे इसी धाम में,
नाम रूप गुण लीला लाभ;

इसी देश में हमें जन्म दो,
लो, प्रणाम हे नीरज नाभ ।
धन्य हमारा भूमि भार भी,
जिससे तुम अवतार धरो;
भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुमसे,
हमें भक्ति दो ओ अमिताभ ।।

परम शक्ति की भिन्न-भिन्न अवतार-दशाओं को एक ही समष्टिमय रूप में उपस्थित करने की रमणीय भावना के लिए गुप्त जी हमारे विशेष स्तवन के पात्र हैं।

'यशोधरा' की मूलभूत अथवा प्राथमिक भावना समग्र रूप से एक ऐसी उदात्त चेतना पर आधारित है जिसके अनुसार संसृति के क्रोड़ में केवल विनाशशील सूत्रों का अवस्थान ही प्रमुख है। प्राण-तत्व की प्रबुद्ध अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति इन विग्रहात्मक तन्तुओं के गहन पाश को विच्छिन्न कर आमरण मुक्ति की साधना में रत रहने का प्रयास करता है, किन्तु अविद्या-जन्य अज्ञान के फलस्वरूप उसकी समस्त पूर्व संचित आशाएँ निर्व्याज रूप से एक असम्बद्ध अथवा मिथ्या प्रलाप में रूपान्तरित हो उठती हैं। उसकी इसी मनोव्यथा का संकेत प्राप्त कर सिद्धार्थ ग्रन्थ के उपोद्घात में ही कल्याणमय विभूति का एक पावन सन्देश लेकर अवतरित होते हैं। मंगला-चरण में उनकी इसी स्नेहशील प्रकृति के बीच में अवस्थित कारण-भावना का कवि ने इस प्रकार स्तुतिपरक उल्लेख किया है:—

धन्य हमारा भूमि भार भी,
जिससे तुम अवतार धरो;
भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुम से,
हमें भक्ति दो ओ अमिताभ !

सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की घटना से उद्भूत मानसिक संवेदन

को स्पष्ट करते हुए छन्दक न उपर्युक्त निर्धारण का एक अन्य ही पक्ष उपस्थित किया है। उसने उनके अवतरण में पूर्व जन्म की अवशिष्ट कामनाओं की सम्पूर्ति के ध्येय को ही प्रमुख श्रेय प्रदान करते हुए कहा है:—

जोग भ्रष्ट थे आर्य, उसी की धुन थी उन्हें समाई,
राज्य छोड़ सन्यास ले गये, रज ही हाय रमाई !

'यशोधरा' में अपने जीवन का अध्याय प्रारम्भ करने पर सिद्धार्थ गम्भीर चिन्तन के उपरान्त यही स्थिर करते हैं कि विश्व की प्रमुख क्रिया-वृत्ति पोषण की अपेक्षा शोषण की ओर अधिक अभिप्रेरित है और समग्र अमर तत्व शनैः शनैः क्षारीय पदार्थ-विस्तार में रूपान्तरित हो जाता है। इसी वस्तु-स्थिति से संवेदित हो, उनकी आत्मा आकुल होकर पुकार उठी है:—

घूम रहा है कैसा चक्र,
वह नवनीत कहाँ जाता है,
रह जाता है तक्र ।

सिद्धार्थ मानव की सृष्टि को निरन्तर आवर्त्तनशील परिस्थितियों में विनाश की ओर संक्रमित होते हुए देखकर उसके प्रति एक विशेष ममत्व-भाव का अनुभव करते हैं और संसृति के नश्वर उपादानों से संरक्षित कर उसे स्वर्ग की ओर ले जाने में विशेष प्रयत्नशील होते हैं। 'स्वर्ण-धूलि' के प्रारम्भ में पन्त जी ने विश्व के इस असत् और तमस् से ऊपर उठने की कामना व्यक्त की है:—

मुझे असत् से ले जाओ हे सत्य ओर ।
मुझे तमस् से उठा दिखाओ ज्योति छोर ॥
मुझे मृत्यु से बचा, बनाओ अमृत भोर;
बार बार आकर अन्तर में हे चिर परिचित ।
दक्षिण मुख से रुद्र, करो मेरी रक्षा नित ॥

इस स्थल पर कविवर पन्त और निर्वाणोन्मुख सिद्धार्थ की भाव-स्थिति के मध्य एक मौलिक भेद का संचरण हो गया है। यद्यपि विश्व के ग्रहणशील व्यवहार से त्रस्त होकर संक्षुब्धि सिद्धार्थ को भी होती है तथापि उससे मुक्त होने के लिए वह प्रणव की ओर न देखकर अपनी स्वयं की आत्मा में देखते हैं और उसी के विश्लेषण द्वारा अपने लक्ष्य के यथार्थ सन्धान में विश्वास प्रकट करते हैं। पौराणिक अतिरंजनाओं से युक्त देव-गण में उनका रंच-मात्र भी विश्वास नहीं है और यही कारण है कि उनके सामर्थ्य को अभिरूपित करने वाली रूढ़िग्रस्त जन-गाथाओं को वह केवल प्रवंचनाओं के रूप में ग्रहण करते हैं:—

कैसे परित्राण हम पावें,
किन देवों को रोवें गावें ?
पहले अपना कुशल मनावें,
वे सारे सुर शक्र !
घूम रहा है कैसा चक्र ?

आज के बुद्धिवादी तथा विज्ञानद्रष्टा युग के अनुकूल ही ये भाव हैं भी ! मैं यह नहीं कहता कि पन्त जी की तत्सम्बन्धी मान्यतायें अपने युग के सत्य से पिछड़ गई हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी काव्य-पंक्तियों में परि-व्याप्त चेतना की अपेक्षा गुप्त जी की भाव-धारा के अन्तस् में सन्निहित आत्म-विश्वास की दृढ़ता कहीं अधिक वेगवान है। 'यशोधरा' की इन पंक्तियों में 'अहम्' की वृत्ति के स्थान पर व्यंग की भावना का ही अधिक समावेश है और पौरुष की ध्वनि से युक्त होने के कारण कवि की यह धारणा अपेक्षाकृत वरेण्य हो गई है।

'यशोधरा' के कथानक का संयोजन करते समय गुप्त जी ने अपने पूर्ववर्ती बुद्ध-विषयक साहित्य से पर्याप्त अनुप्रेरणा ग्रहण की है। छन्दक के साथ नगर-भ्रमण करते समय वार्द्धक्य के दर्शन तथा निकट परिचय

द्वारा सिद्धार्थ के अन्तर में विराग के जिस स्वरूप की सूत्रोत्पत्ति होती है, वह अपने आप में अत्यन्त भाव-संकुलित है। मानसिक संवेग की उस भाव-मयी सत्ता का पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'बुद्धचरित' में इस प्रकार उल्लेख किया है:—

फेरि बूझति कुँवर जो एते दिनन पर्यंत,
रहें जीवित हमहुँ ह्वै हैं कहा ऐसे अंत।
जियति अस्सी वर्ष लौं जो चली गोपा जाय,
जरा वाहू को कहा यों घेरि लैहै आय ?

गुप्त जी ने इस प्रसंग को 'यशोधरा' में ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया है। फिर भी शुक्ल जी की अपेक्षा इस प्रकरण को और भी अधिक काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए उन्होंने छन्दक से सम्भाषण की अपेक्षा इसे सिद्धार्थ के आत्मचिन्तन में समाहारित करके सम्बद्ध छन्द के विस्तार को कुशलतापूर्वक निराकृत कर सिद्धार्थ की अन्तः साधना के स्वरूप को इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में ही व्यक्त कर दिया है:—

देखी मैंने आज जरा !
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा ?

शुक्ल जी ने 'बुद्धचरित' में यशोधरा के प्रति सिद्धार्थ की आसक्ति को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया है, किन्तु गुप्त जी ने अपने काव्य में इस प्रेम-प्रसंग को प्रायः छोड़ दिया है। एक स्थान पर अपनी प्रियतमा की जरा-विगलित काया की कल्पना कर सिद्धार्थ पीड़ा से अधीर हो उठे हैं और उसके प्रति उनके अन्तर का असीम अनुराग प्रच्छन्न रूप में व्यंजित हो गया है:—

हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ?

एक अन्य स्थल पर सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण की घटना के अनन्तर यशोधरा पूर्व-प्राप्त सुखानुभूतियों की स्मृति के संचयन द्वारा पति की प्रेम-भावना की व्यंजना उपस्थित करते हुए सखी से कहती है:—

आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,
मानती हूँ उनको गहन वन-गामी मैं ।
ध्यान मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा—
'क्यों जी ? प्राणवल्लभ कहूँ या तुम्हें स्वामी मैं ?'
चौंक, कुछ लज्जित से, बोले हँस आर्य-पुत्र—
'योगेश्वर क्यों न होऊँ, गोपेश्वर नामी मैं !
किन्तु चिन्ता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ,
तो हूँ जार पीछे, प्रिये ! पहले हूँ कामी मैं !'

उपरोक्त उद्धरणों में शृंगार के पार्श्व में निर्वेद-भाव का भी अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से निर्वाह हुआ है । सिद्धार्थ और यशोधरा के दाम्पत्य-सम्बन्ध को प्रच्छन्न रीति से अभिव्यक्त करने के लिए सम्भवतः इससे अच्छी अन्य कोई युक्ति न हो सकती थी ।

सिद्धार्थ के गृह-त्याग की पूर्व परिस्थितियों का उल्लेख करते समय गुप्त जी ने उनके इस विचार पर विशेष बल दिया है कि आत्यन्तिक विलास का अन्तिम परिणाम मृत्यु ही है । माया के प्रगाढ़ पाश में निबद्ध होने के कारण भोक्ता अपने विनाश के सत्य के निकटतम परिचय में नहीं रहता । भोग के वे ही उपकरण उसके जीवन के प्रत्येक क्षण को शुल्क-रूप में ग्रहण करते रहते हैं और अन्त में उसे आनन्द के स्थान पर विषाद-भाव की अनुभूति प्राप्त करने को विवश होना पड़ता है । इसी तथ्य को लक्षित कर सिद्धार्थ कहते हैं:—

मरने को जग जीता है !
रिसता है जो रन्ध्र पूर्ण घट,
भरा हुआ भी रीता है ।
× × ×
विष का ही परिणाम निकलता,
कोई रस क्या पीता है ?

सिद्धार्थ का विश्वास है कि आत्मा का आलोक प्राणी को सर्वत्र मार्ग-दर्शन करायेगा। आवश्यकता केवल इस वस्तु की है कि उसकी साधना का स्वरूप अपने में सर्वथा सत्य और निर्भ्रान्त हो। इस तत्व की उपस्थिति को जीवन-व्यापी कर्म-चेतना का आदि स्रोत मानते हुए वह कहते हैं:—

अमृत पुत्र, उठ, कुछ उपाय कर,
चल, चुप हार न बैठ हाय !
खोज रहा है, क्या सहाय तू ?
मेट आप ही अन्तराय ॥

अब उनके मनस्-लोक में किसी प्रकार का द्वन्द्व-भाव शेष नहीं रह जाता। वह अत्यन्त स्वस्थ और शुद्ध रीति से कहते हैं:—

पड़ी रह तू मेरी भव-भुक्ति।
मुक्ति हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति-मुक्ति बस मुक्ति ॥
मेरा मानस हंस सुनेगा, और कौन-सी युक्ति ?
मुक्ताफल निर्द्वन्द्व चुनेगा, चुन ले कोई शुक्ति ॥

उनका प्रमुख लक्ष्य सृष्टि के लिए शिवं का विधान करना है। वह सम्पूर्ण विश्व में बन्धुत्व के चिरन्तन भाव के दर्शन करते हैं और सर्वभूत के हित में ही अपने जीवन की पूर्ण गति मानते हैं। इसी कारण मृत्यु से भीत संसृति को आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा है:—

भुवन भावने, आ पहुँचा मैं,
अब क्यों तू यों भीता है ?
अपने से पहले अपनों की,
सुगति गौतमी गीता है ॥

बौद्ध दर्शन में आवागमन के सिद्धान्त का प्रकट विरोध किया गया है। पुनर्जन्म की प्रक्रिया को ही वहाँ समग्र दुखों के मूल कारण के रूप में स्वीकार किया जाता है। बुद्ध की इस भावना को गुप्त जी ने अत्यन्त

आकर्षक रीति से उपस्थित किया है। वह प्रथम जन्म को ही अन्तिम जन्म मानकर चलने में कल्याण समझते हैं:—

एक बार तो किसी जन्म के,
साथ मरण अनिवार्य हाय !
बार-बार धिक्कार, किन्तु यदि
रहे मृत्यु का शेष दाय ॥

गौतम को जीवन के सत्य को प्राप्त करने की निरन्तर लालसा रही है और वह इसके उपयुक्त अवसर की सतत रूप से शोध करते रहे हैं। उन्होंने यशोधरा को नारी के विवाहित जीवन का प्रत्येक सुख प्रदान किया है और यही कारण है कि उसे पूर्णतः सुख-संतुष्ट मानकर अपने भावी लक्ष्य का विधान करते हुए वह कहते हैं:—

अयि गोपे, तेरी गोद पूर्ण,
तू हास-विलास-विनोद पूर्ण !
अब गौतम भी हो मोद पूर्ण,
क्या अपना विधि है आज वाम !
ओ क्षणभंगुर भव राम राम ॥

बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध इतर साहित्य में उपर्युक्त परिस्थिति की इस रूप में अन्विति नहीं मिलती। वहाँ सिद्धार्थ अपने को गोपा के प्रति स्पष्ट रूप से अपराधी पाते हैं। इसके विपरीत गुप्त जी ने उक्त भाव का निवारण कर सिद्धार्थ को पूर्णतः न्याय-संगत सिद्ध करने की चेष्टा की है। यही ठीक भी है। यद्यपि परिस्थिति का दूसरी दृष्टि से अध्ययन करने पर हम सिद्धार्थ की इस क्रिया में दोष भी पा सकते हैं तथापि मेरा विचार है कि उस प्रकार की अभावात्मक सत्ता की स्थिति यहाँ उतने उग्र रूप में नहीं है। यदि निर्वेद के पथ पर अग्रसर होते समय बुद्ध अपने मानस में इस प्रकार की आशंका अथवा अपराधी-भावना लेकर चलते तो निश्चित रूप

से वह उतने शान्त मानस से चिन्तनरत न हो पाते। अतः मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से भी गुप्त जी का कथानक में संशोधन तर्क-सम्मत है।

सिद्धार्थ शृंगार-भाव से न सही, कर्त्तव्य-भाव से अवश्य यशोधरा को अपने लोक-परित्याग से अवगत करा देना चाहते थे। अपनी इस इच्छा का दमन उन्होंने केवल इस कारण किया कि यशोधरा के वर्जनात्मक संकेतों से अभिभूत हो जाने की शंका भी उन्हें निश्चित रूप से थी। कविवर अश्वघोष ने भी अपने 'बुद्धचरित' में इसकी सम्भावना दिखलाई है। वहाँ गोपा अपनी वियोग-जन्य उक्तियों द्वारा बुद्ध के साथ जाने की कामना को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है :—

शृणोति नूनं सः पूर्वपार्थिवा—
न्महासुदर्शप्रभृतीन पितामहान्।
वनानि पत्नीसहितनुपेयुष—
स्तथा हि धर्मं महते चिकीर्षति॥

अर्थात् "यदि वह मेरे बिना ही धर्म का पालन करना चाहते हैं, तब अवश्य ही उन्होंने प्राचीन समय के महासुदर्श तथा अन्य नरेशों के सम्बन्ध में नहीं सुना है, जो अपनी भार्याओं के साथ वन में गये थे।"

इस अवस्था में सिद्धार्थ के लिए सिद्धि की प्राप्ति असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य रहती। यद्यपि 'योगवाशिष्ठ' में ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं, जहाँ राजा शिखिध्वज को उनकी पत्नी चूड़ाला ही आत्म-सन्धान में प्रमुख योग प्रदान करती है, किन्तु बुद्ध की आस्था इसमें नहीं थी। प्रश्न यह है कि क्या हम इसे उनके दुर्बल व्यक्तित्व का चिन्ह मानें ? इस सम्बन्ध में मेरा उत्तर नकारात्मक है। सिद्धार्थ में इतना आत्म-तेज अवश्य था कि वह यशोधरा के सान्निध्य में सिद्धि-लाभ कर सकें अन्यथा वह इस मायात्मक संसार में भी उतने निर्लिप्त भाव से कैसे रह पाते। वास्तव में उनकी आकांक्षा है कि वह सृष्टि को जर्जर परिस्थितियों के गहन बन्धनों से यथासम्भव शीघ्र मुक्त कर सकें और इसी कारण वह कहते हैं:—

क्या तुझे जगाऊँ एक बार ?
पर है अब भी अप्राप्त सार ;
सो, अभी स्वप्न ही तू निहार,
है शुभे, श्वेत के साथ श्याम ।
ओ, क्षणभंगुर भव राम राम !

निर्वेद की भावनाओं के संचरण के पश्चात् सिद्धार्थ का व्यक्तित्व अपने में पूर्णतः चेतन हो जाता है । भौतिक उपादानों का परित्याग कर वह सभी प्रकार की लोकेषणाओं से विरक्त हो जाते हैं । संसार का मोहात्मक स्वरूप उनके सम्मुख क्रमशः पराजित हो जाता है । महान् आत्मा से संयुत होने के कारण वह उसे उन सभी अपराधों के लिए क्षमा कर देते हैं जिनका संयोजन वह उनकी लक्ष्य-प्राप्ति की राह में अवरोधों के रूप में करता है । वह उसे एक नियन्त्रित गति में शान्त भाव से रहने का आदेश प्रदान करते हैं । तभी उनके मन में यह स्वाभाविक शंका उत्पन्न होती है कि कहीं भावी पीढ़ी उनके इस गृह-त्याग में निराशा अथवा अकर्मण्यत्व का अनुमान न कर ले । इसी कारण उन्होंने अपनी आत्मा को मुक्त बताया है और अपने जीवन को स्वतन्त्र गति से स्वयं निसर्गतः विकसित होने वाला माना है । उन्होंने अपने लोक-त्याग के मूल में प्रतिक्रियावाद की अपेक्षा सृष्टि के निस्सार तत्व को मंगलमय बनाने की कामना को प्रकट किया है:—

क्या भाग रहा हूँ भार देख ?
तू मेरी ओर निहार देख ।
मैं त्याग चला निःस्सार देख,
अटकेगा मेरा कौन काम ?
ओ, क्षण भंगुर भव राम राम !

कतिपय विदेशी आलोचकों ने बुद्ध के दर्शन में निराशावादिता के दर्शन किये हैं, परन्तु हमारा निश्चित मत है कि वह सबसे बड़े आशावादी थे, क्योंकि उनका विश्वास बाह्य दर्शन की अपेक्षा अन्तर्दर्शन में अधिक

था और वह व्यक्ति को सबसे बृहत् इकाई मानते थे।

आत्म-दर्शन के पश्चात् निर्मल ज्ञान का संचय कर बुद्ध पुनः कपिल-वस्तु की राजभूमि में प्रवेश करते हैं। इस स्थल पर गुप्त जी ने वर्ण्य विषय का सर्वथा अभिनव रूप में संयोजन किया है। यशोधरा की गौरव-भावना की रक्षा के लिए उन्होंने बुद्ध के एकपक्षीय निर्णय के प्रति उसके सभी आरोपों का अत्यन्त सुन्दर रीति मे परिहार किया है। समदृष्टिमूलक अन्तर्भावना की उपलब्धि के फलस्वरूप वह संत्रस्त मानवता के लिए एक विशिष्ट सहानुभूति का अनुभव करते हैं और अपने समग्र परिबोधन के लिए यशोधरा के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं। वास्तव में उसी की स्मृति का सम्बल प्राप्त कर वह मनस् ज्योति को इतने शीघ्र प्राप्त करने में समर्थ हो सके। इसी कारण गोपा को सान्त्वना प्रदान करते हुए वह कहते हैं:—

मानिनी, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
दानिनी, आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्रभवान !

× × ×

माना दुर्बल ही था गौतम, छिपकर गया निदान।
किंतु शुभे, परिणाम भला ही हुआ सुधा-संधान ।।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान् !

यशोधरा बुद्ध के ज्ञान से अतिशय प्रभावित होती है और शनैः शनैः उसका समग्र मान पूजा-भाव की ओर प्रवृत्त होने लगता है। उसके उक्त समर्पण में हीन अथवा दुर्बल व्यक्तित्व के संकेत प्राप्त कर बुद्ध उसे आत्म-प्रेरणा देते हुए कहते हैं:—

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी।
भूत-दया मूर्ति वह मन से, शरीर से ।।

इन पंक्तियों में बुद्ध का चरित्र हमारे सम्मुख और भी निखरे हुए रूप में उपस्थित हुआ है। अन्त में यशोधरा की प्रेरणा से राहुल पिता से शील-भाव की याचना करता है। गृहस्थी के इस व्यवहार से सन्तुष्ट होकर वह अत्यन्त प्रसन्न चित्त से उसे मोक्ष का आशीर्वाद प्रदान करते हैं :—

मैं भी कृतकृत्य आज, वीर वत्स, आ तू,
स्वाधिकार भागी बन भूरि भूरि भा तू।
सत्प्रकाश और अमृत एक साथ पा तू।
बुद्ध शरण, धर्म शरण, संघ शरण जा तू॥

इन पंक्तियों में केवल राहुल ही नहीं, अपितु सर्वभूत के प्रति सम्यक् सम्बुद्ध के चेतन और शाश्वत सन्देश का प्रसारण है।

: १६ :

# 'कामायनी' का भाव-सौष्ठव

वर्तमान युग के खड़ी बोली के महाकाव्यों में कविवर जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। भाषा-नियोजन और भाव-प्रतिपादन, दोनों ही की दृष्टि से यह एक सफल काव्य बन पड़ा है। इसमें कवि ने छायावादी प्रवृत्ति के अनुकूल अपने विचारों को प्रतीक-शैली द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्रस्तुत कृति के भाव-पक्ष पर विचार करते समय हम इसकी ऐतिहासिकता, महाकाव्यत्व, दार्शनिक विचार-तत्व और प्रकृति-चित्रण आदि विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

## रस-नियोजन

मानव-जीवन की विविधताओं के सम्यक् प्रतिपादन के लिए काव्य में रस-विधान अत्यन्त आवश्यक होता है। 'कामायनी' में शान्त रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और शृंगार, वीर, वत्सल, करुण आदि अन्य रसों का यथास्थान गौण रूप में समावेश हुआ है। शान्त रस के अन्तर्गत कवि ने मनु को श्रद्धा की सहायता से आनन्दवाद की ओर उन्मुख होते हुए दिखाया है और मनु और श्रद्धा के प्रणय-भाव तथा इड़ा के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए 'प्रसाद' जी ने शृंगार रस का मुख्य सहायक रस के रूप में आयोजन किया है। वीर रस का समावेश मनु और इड़ा की प्रजा के युद्ध-विषयक प्रकरण में हुआ है। करुण रस के दर्शन मनु द्वारा पशु-बलि देने के अवसर पर होते हैं। वत्सल रस की योजना श्रद्धा और उसके पुत्र से सम्बद्ध प्रकरणों

में हुई है। इसी प्रकार कवि ने अन्य रसों का भी उचित प्रयोग किया है।

## महाकाव्यत्व

महाकाव्य के प्राच्य साहित्य-शास्त्र के लक्षण 'कामायनी' में लगभग पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाते हैं। इसमें सर्ग-क्रम का पालन करते हुए शान्त रस को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है। कथा-नियोजन की दृष्टि से इसमें मनु और श्रद्धा की प्रसिद्ध आधिकारक कथा के अतिरिक्त आकुलि-किलात और इड़ा तथा मानव की कथाओं का प्रासंगिक रूप से समावेश किया गया है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का निर्वाह न करने पर भी कवि ने सर्गान्त में आगामी सर्ग की कथा-सूचना को देने का प्रयास किया है। नायकोत्कर्ष की दृष्टि से 'कामायनी' के नायक में विविध अभिजात गुणों का समावेश रहा है। प्रकृति-सौन्दर्य के निरूपण की ओर भी इस काव्य में यथेष्ट ध्यान दिया गया है और युग-धर्म का निर्वाह करने के लिए कवि ने हिंसा के प्रश्न को लेकर अपनी समकालीन समस्याओं पर भी विचार किया है।

वर्तमान युग में महाकाव्य के लक्षण-विस्तार को ध्यान में रखने पर भी हम 'कामायनी' को सफल कृति पाते हैं। इस दृष्टि से इसमें घटना, पात्र, शैली और उद्देश्य को उच्च स्तर पर आयोजित किया गया है और इसमें असत् का विरोध कर सत् को प्रतिष्ठित करने का उद्योग किया गया है। शैली के आकर्षण को सुरक्षित रखने के लिए इसमें 'इड़ा' सर्ग में गीतों का प्रयोग भी किया गया है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार आलोचना करने पर हम 'कामायनी' को कलात्मक महाकाव्य (epic of art) कह सकते हैं।

रूपक-तत्व के संयोजन की दृष्टि से भी 'कामायनी' एक सफल काव्य बन पड़ा है। यद्यपि यह सत्य है कि घटना-प्रवाह के क्रमागत संयोजन की दृष्टि से 'कामायनी' एक असफल रचना है और संस्कृत महाकाव्य के कुछ लक्षणों का भी उसमें अभाव है तथापि वर्तमान महाकाव्य के भाव

और शैली-विषयक परिवर्तित गुणों को लक्ष्य में रखकर हम 'कामायनी' को एक महाकाव्य कह सकते हैं।

### मनस्तत्व

काव्य में मनस्तत्व के समावेश से हमारा अभिप्राय उसमें मानसिक भावनाओं के व्यवस्थित और क्रमिक समावेश से है। इस दृष्टि से 'कामायनी' एक सफल रचना है और कवि ने उसके प्रत्येक सर्ग का नामकरण मानवीय भावनाओं के अनुरूप करते हुए प्रत्येग सर्ग में मुख्य भावना और उसकी सहायक भावनाओं का काव्यमय चित्रण किया है। इसके पात्रों में मनु, श्रद्धा और इड़ा मुख्य हैं और कवि ने उनको क्रमशः मन, हृदय और बुद्धि के प्रतीकों के रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार 'कामायनी' में मनु के जीवन-विकास को मानव के भाव-विकास के रूप में अंकित करते हुए मनस्तत्व के निर्वाह का उपयुक्त ध्यान रखा गया है और इस दृष्टि से यह काव्य अपने युग की अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर बन पड़ा है।

### ऐतिहासिकता

'कामायनी' में कवि ने प्रागैतिहासिक घटनाओं के विशृंखलित रूप में से मनु और श्रद्धा की कथा को व्यवस्थित रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। 'कामायनी' के पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व की खोज करने पर हम देखतें हैं कि मनु, श्रद्धा, इड़ा, कुमार, आकुलि और किलात नामक पात्रों को ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त है और ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् आदि वैदिक युग के ग्रन्थों में उनका नामोल्लेख हुआ है।

'कामायनी' की सभी प्रमुख घटनाओं का सम्बन्ध भी इतिहास से ही रहा है और कवि ने कल्पना के प्रयोग द्वारा इन घटनाओं को अव्यक्त होने पर भी पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने इतिहास का आधार ग्रहण करते हुए कल्पना की

सहायता से 'कामायनी' की घटनाओं को यथासम्भव पूर्ण और क्रमबद्ध रखा है।

## छायावादी प्रवृत्ति

'कामायनी' में छायावाद की भाव और कला-सम्बन्धी सभी विशेषताओं को उत्कृष्ट रूप में ग्रहण किया गया है। छायावादी भावनाओं की दृष्टि से इसमें प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करते समय कवि ने प्रतीक-शैली का प्रयोग करते हुए प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में आत्माभिव्यक्ति को भी स्थान दिया है और उनकी यह भावना अन्त में आनन्दवाद में परिवर्तित हो गई है। इसी प्रकार उन्होंने छायावाद की विषाद और करुणा की प्रवृत्ति को अपनाते हुए मनु की निराशा का वर्णन किया है। छायावाद के नीति-विद्रोह-सम्बन्धी पक्ष को अपनाकर 'प्रसाद' जी ने प्रकृति पर नारी-भाव को आरोपित करने के साथ-साथ नारी की आत्मा के सौन्दर्य का भी प्रचुर वर्णन किया है। परोक्ष-दर्शन-सम्बन्धी छायावादी प्रवृत्ति का भी 'कामायनी' में यत्र-तत्र समावेश हुआ है।

'कामायनी' में छायावादी प्रवृत्ति के अनुकूल अनेक शैली-विषयक नवीन प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी ने उसमें प्रतीक-शैली और चित्र-शैली का प्रयोग करने के अतिरिक्त अलंकार-विधान की दृष्टि से मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय जैसे नवीन अलंकारों का प्रयोग भी किया है।

## रूपक-तत्व और दार्शनिक विचार

'कामायनी' में रूपक-तत्व का निर्वाह करते हुए कवि ने मनु को मन, श्रद्धा को हृदय, इड़ा को बुद्धि, किलात और आकुलि को आसुरी प्रवृत्तियों तथा कुमार को मन, बुद्धि और हृदय के समन्वित रूप का प्रतीक माना है।

इसी प्रकार उन्होंने वृषभ को धर्म, श्रद्धा के पशु को करुणा, सोमलता को भोग और कैलाश शिखर को आनन्दमय कोष के प्रतीकों के रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने अपने चेतन और अचेतन, सभी पात्रों को प्रतीकवत् अंकित करते हुए 'कामायनी' में ऐतिहासिक कथा के साथ-साथ एक सूक्ष्म सांकेतिक अध्यात्मिक कथा का भी रूपक के द्वारा श्रेष्ठ निर्वाह किया है।

रूपक की स्थिति के कारण कामायनी की दार्शनिक विचार-धारा पूर्णतः स्पष्ट रही है। इसमें कवि ने आनन्दवाद के रूप में अपने मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए समरसता की स्थिति पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार जब व्यक्ति श्रद्धा और इड़ा के सहयोग से इच्छा, क्रिया और ज्ञान को समन्वित कर लेता है तब उसे समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाती है और यही सामरस्य उसे आनन्द-मार्ग की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी ने समष्टिगत सामरस्य (व्यक्ति-हित और समाज-हित का समन्वय), व्यष्टिगत सामरस्य (इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप) और तत्वगत सामरस्य (पुरुष और प्रकृति का समन्वय) का प्रतिपादन किया है।

## प्रकृति-चित्रण

'कामायनी' में प्राकृतिक छवि के चित्रण को पर्याप्त स्थान प्रदान किया गया है और कवि ने उनके कोमल और रुक्ष, दोनों ही रूपों का सफल अंकन किया है। उन्होंने प्रकृति को आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक और अलंकारिक, तीनों ही रूपों में चित्रित किया है। प्रकृति-वर्णन करते समय उन्होंने देश-काल और संस्कृति का पूर्ण ध्यान रखा है और अपने पात्रों को प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण कर उन्हीं के अनुरूप चरित्र-विकास करते हुए दिखाया है। 'कामायनी' में प्रकृति के वस्तुगत, संश्लिष्ट भावाक्षिप्त और चेतनात्मक आदि सभी रूप सहज उपलब्ध हैं।

## युगाभिव्यक्ति

'प्रसाद' जी ने अपनी समकालीन स्थिति को 'कामायनी' में प्रतिध्वनित करने की ओर भी उचित ध्यान दिया है और इन समस्याओं के अध्ययन तथा समाधान उपस्थित करने की चेष्टा की है। इस प्रकार की समस्याओं को उन्होंने अपनी अथवा पात्रों की ओर से उपस्थित किया है। उनके द्वारा व्यक्त की गई समस्याओं का रूप इस प्रकार है:—

(१) 'प्रसाद' जी ने वर्ग-शोषण, वर्ण-भेद तथा वर्ग-भेद आदि का विरोध करते हुए वर्तमान युग की प्रगतिशील विचार-धारा के अनुकूल समाज को आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तनशील माना है।

(२) उन्होंने वर्तमान युग के उपयोगितावाद से प्रेरणा ग्रहण कर उसमें आध्यात्मिकता का समन्वय किया है।

(३) उन्होंने जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए आधुनिक विचार-धारा के अनुकूल शक्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है।

(४) उन्होंने वर्तमान विचार-धारा के अनुसार बुद्धि-पक्ष के समक्ष हृदय-पक्ष को प्रमुख मानकर विश्व-शान्ति के लिए उसी के आधार-ग्रहण को आवश्यक माना है।

## चरित्र-चित्रण

भाव-प्रधान काव्य होने पर भी 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों का सुन्दर विकास अंकित किया गया है और कवि ने इन पात्रों के शरीर-सौन्दर्य तथा मानसिक भावों का सुन्दर वर्णन किया है। मनु के चरित्र की अहंकार वृत्ति, रूपासक्ति और तदनन्तर अध्यात्म-चेतना का चित्रण करने में कवि को पूर्ग सफलता प्राप्त हुई है। श्रद्धा के चरित्र में नारी के विविध उच्चतर गुणों का सफल समावेश करते हुए कवि ने उसे मानव-मात्र के कल्याण की विधायिका शक्ति के रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होंने इड़ा को बुद्धि की प्रतीक के रूप में चित्रित करते हुए

उसके स्वरूप की सुन्दर व्याख्या उपस्थित की है। श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों को अंकित करने में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और श्रद्धा के व्यक्तित्व का आयोजन करते समय उन्होंने नारी के प्रति अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को अत्यन्त कोमलतम अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कवि ने अन्य गौण पात्रों के चरित्रों को भी यथास्थान उचित रूप में प्रस्तुत किया है।

अतः 'कामायनी' के भाव-पक्ष का उपर्युक्त अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें भाव-सम्बन्धी विभिन्न स्थितियों का वर्तमान दृष्टिकोण के अनुसार सफल समावेश हुआ है। वास्तव में अपनी प्रौढ़ और परिष्कृत विचार-धारा के कारण ही 'कामायनी' को वर्तमान युग की काव्य-कृतियों में शीर्ष स्थान प्राप्त है।

: १७ :

# 'कामायनी' में दार्शनिक विचार

'कामायनी' के कथानक का सम्बन्ध इतिहास के उस युग से है जब समाज में अध्यात्म-दर्शन का व्यापक प्रचार था। यही कारण है कि 'प्रसाद' जी ने इसमें रूपक-संयोजन द्वारा कथा के दार्शनिक आधार को अपेक्षाकृत व्यक्त एवं स्पष्ट रखने का प्रयास किया है। उन्होंने इसमें मनु और श्रद्धा की इतिहासमय कथा के साथ ही मानव-मन के विकास और उसकी मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा को भी उपस्थित किया है। इस कथा-योजना के निम्नलिखित दो पक्ष हैं :—

(क) 'प्रसाद' जी ने इसमें मनु (मनन-शक्ति, मन) और श्रद्धा (हृदय की भावनात्मक सत्ता, विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति) के संघर्ष और समन्वय का आधार ग्रहण किया है।

(ख) 'प्रसाद' जी ने इसमें मनु ( मनन-शक्ति, मन ) और इड़ा (व्यवसायात्मिका बुद्धि) के संघर्ष तथा समन्वय के आधार को उपस्थित किया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से 'कामायनी' का आधारभूत सिद्धान्त आनन्द-वाद है। यह सिद्धान्त 'प्रसाद' जी की अपनी मौलिक सृष्टि है और 'कामा-यनी' के अन्तिम सर्ग में उन्होंने इसके स्वरूप का सूक्ष्म वर्णन किया है। इसके स्वरूप-संयोजन में उन्होंने शैव-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, वेदान्त-दर्शन

उपनिषद्-साहित्य तथा वर्तमान युग की साम्यवादी प्रवृत्तियों का उपयोग किया है। इस आनन्द की प्राप्ति मन के समरसता की अवस्था में होने पर ही होती है और इस सामरस्य की सृष्टि केवल तभी होती है जब श्रद्धा और इड़ा के पारस्परिक सहयोग के कारण इच्छा, क्रिया और ज्ञान का परस्पर समन्वय हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव का चरम लक्ष्य शाश्वत आनन्दोपलब्धि है और यह आनन्द केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब मन श्रद्धा और इड़ा को परस्पर सहयोगशील रखने में सक्षम हो। इन दोनों वृत्तियों का स्वरूप इस प्रकार है :—

(क) श्रद्धा-वृत्ति:—

वेदों, उपनिषदों, गीता और योग-दर्शन आदि में श्रद्धा को लोक-कल्याण का प्रवर्तन करने वाली मूल वृत्ति कहा गया है। 'कामायनी' में वह प्रेम, सहानुभूति, ममता और विश्वास आदि दिव्य गुणों की प्रतीक रही है और 'प्रसाद' जी ने उसे सामरस्य-सिद्धान्त के प्रसार में सहयोग करते हुए दिखलाया है। अपने पुत्र को इड़ा के समीप छोड़ते हुए उसके प्रति श्रद्धा का निम्नलिखित सन्देश इसका सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है:—

वह तर्कमयी तू श्रद्धामय ।
तू मननशील कर कर्म अभय ॥

× × ×

सबकी समरसता का प्रचार ।
मेरे सुत सुन माँ की पुकार ॥

(ख) इड़ा-वृत्ति :—

'ऋग्वेद' में इड़ा को बौद्धिक ज्ञान की प्रतीक कहा गया है। व्यवसायात्मिका-बुद्धि-रूपा होने के कारण वह मानव-मन को सांसारिक प्रपंच-भेद की ओर प्रवृत्त कर उसे आनन्द-मार्ग से विरत कर देती है। 'कामायनी' में 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' कहकर कवि ने प्रतीक-शैली से उसके

स्वरूप की सुन्दर व्याख्या उपस्थित की है। 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा ने भी उसके विषय में अपनी धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।
तू विकल कर रही है अभिनय ॥

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बुद्धि मानव के लिए अवाँछनीय है। वास्तव में उसके द्वारा राग को परिपक्वता प्राप्त होती है और बुद्धि द्वारा नियन्त्रित मन ही सामरस्य की स्थिति को प्राप्त करने में सक्षम हो पाता है।

## समरसता

'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' के 'रहस्य' सर्ग में समरसता के सिद्धान्त की दार्शनिक विवेचना उपस्थित की है। उन्होंने इस सिद्धान्त को शैव-दर्शन से ग्रहण किया है। शैवागमों में शिव के विभिन्न रूपों को लेकर सामरस्य का वर्णन किया गया है और शिवत्व-प्राप्ति के लिए जगत् के वैषम्य में समत्व-स्थापना के उपायों की चर्चा की गई है। 'कामायनी' में श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय के चित्रण द्वारा इसी तत्व का प्रतिपादन किया गया है। शैव-दर्शन में स्वीकृत शिव के स्रष्टा, मायायोगी दिगम्बर, मन्त्रविद्, नटराज और संहारक नामक पाँच रूपों के दर्शन भी 'कामायनी' में यथास्थान हो जाते हैं:—

(क) स्रष्टा शिव:—

अखिल विश्व का विष पीते हो सृष्टि जियेगी फिर से।
कहो अमर शीतलता इतनी आती तुम्हें किधर से ?

—(कर्म सर्ग)

(ख) मायायोगी दिगम्बर शिव:—

अचल अनन्त की नील लहरों पर बैठे आसन मारे।
देव, कौन तुम, झरतें तन से श्रमकण से ये तारे ॥

(ग) मन्त्रविद् शिवः--

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल ।
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित ॥

--(कैलाश पर्वत पर दर्शनीय)

(घ) नटराज शिवः---

देखा मनु ने नर्तित नटेश,
हतचेत पुकार उठे विशेष ।
यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल ॥

(घ) संहारक शिव :--

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने
नृत्य विकम्पित पद अपना ।
जिधर उठाया, भूत सृष्टि
सब होने जाती थी सपना ॥

--(मनु द्वारा इड़ा के प्रति अत्याचार करने पर शिव का रुद्र-रूप प्रदर्शन)

'प्रसाद' जी ने मानव-जीवन और दर्शन-शास्त्र में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की स्थापना करते हुए जीवन के सुख और शान्ति के लिए 'कामायनी' में शासक और शासित, आकांक्षा और तृप्ति, दुःख और सुख तथा व्यष्टि और समष्टि की समरसता पर बल दिया है। 'रहस्य' सर्ग में उन्होंने आनन्द-प्राप्ति के लिए इच्छा, कर्म और ज्ञान के त्रितत्व में सामरस्य पर बल दिया है और यह प्रतिपादित किया है कि बुद्धि-समन्वित श्रद्धा ही इनके पारस्पपरिक भेद को नष्ट कर इन्हें एकाकार करती है। इस ऐक्य तथा सामरस्य के अभाव में चिदानन्द की प्राप्ति असम्भव है:--

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की ।।

'प्रसाद' जी ने इस त्रितत्व का संयोजन करने में शैवागमों के त्रिपुर-रहस्य से सहायता ग्रहण की है और योगियों की पंचकोष-साधना-पद्धति का भी इससे सम्बन्ध स्थापित किया है । यथा:--

(क) मनोलोक (इच्छा लोक)--मनोमय कोष ।
(ख) क्रिया लोक--अन्नमय कोष, प्राणमय कोष ।
(ग) ज्ञान लोक--ज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष ।

### आनन्दवाद

'प्रसाद' जी ने सांख्य और बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित किए गए दुःख-मूलक जगत् की स्थिति को अस्वीकार करते हुए दुःख-प्रताड़ित और शाप-ग्रस्त परिस्थितियों का समरसता-जन्य आनन्दवाद में निवारण माना है । 'कामायनी' की दार्शनिक विचार-धारा आत्मवाद अथवा आन्तरिक आनन्द पर आधारित है । इस आनन्दवाद की सृष्टि प्रमुख रूप में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर की गई है, किन्तु 'प्रसाद' जी ने इसमें वेदान्त और बौद्ध-दर्शन के कुछ उपयोगी तत्वों को भी ग्रहण किया है । शैवागमों में शक्ति को शिव के बाह्य स्वरूप की प्रतीक कहकर उसके द्वारा सृजित विश्व को सत्य तथा आनन्द से युक्त माना गया है । 'प्रसाद' जी ने भी इसी सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण कर विश्व को ब्रह्ममय मानकर भी अद्वैतवाद के अनुकूल उसे मिथ्या नहीं माना है । यथा:--

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त ।

विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त ॥

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'कामायनी' की दार्शनिक पृष्ठभूमि के मूलाधार शैवागम हैं। वास्तव में उनमें मौलिक भेद की स्थिति है, क्योंकि जहाँ शैव दर्शन व्यष्टि दर्शन है वहाँ 'कामायनी' में स्पष्टतः सामाजिक दर्शन की स्थापना की गई है। यथाः—

अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा ॥
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ ॥

समष्टि-विकास के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'कामायनी' में उपनिषदों के 'भूमा' शब्द से भी हुआ है। नारद और सनत्कुमार के सम्वाद में 'भूमा' की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है :—

'यो वै भूमा तत्सुखम्'—
'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम् ।'

—(छान्दोग्य उपनिषद्)

इस प्रकार 'भूमा' चेतन शक्ति का सर्वाधिक व्यापक रूप है और उसका बोध होने पर ही आनन्द की उपलब्धि होती है। व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देना ही 'भूमा' का लक्ष्य है और यही 'कामायनी' की सामाजिकता का मूलाधार है।

'कामायनी' का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण यह है कि उसमें वर्तमान युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण, समर्थन और समाधान है। 'कामायनी' में व्यष्टिगत सामरस्य ( इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप), समष्टिगत सामरस्य (व्यक्ति-हित और समाज-हित का समन्वय) और तत्वगत सामरस्य (पुरुष और प्रकृति का समन्वित रूप) का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि श्रद्धा के संसर्ग से बुद्धि का संस्कार होने पर शुद्ध चेतना द्वारा भावना, ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया जा सकता है। सामरस्य प्राप्त होने पर मन आनन्द में लीन हो जाता है, किन्तु शुद्ध-बुद्ध आत्मा की चिदानन्द अनुभूति होने के कारण इस आनन्द को पार्थिव सुखों का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह आनन्द अन्तर्मुखी है और इसमें वैषम्य की जड़ता तिरोहित हो जाती है :—

शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है ॥

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड बना था ॥

: १८ :

# पन्त जी का काव्य-सौष्ठव

हिन्दी के वर्तमान कवियों में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का अपना विशेष महत्व है । उन्होंने वर्तमान युग की छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद नामक तीन प्रमुख काव्य-धाराओं के उपकरणों को अपनी काव्य-कृतियों के लिए सहायक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है । उनके काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर तीनों को ही स्थान प्राप्त हुआ है तथापि उनकी विशिष्ट रुचि रम्य-मधुर सुन्दर तत्वों के प्रतिपादन की ओर ही प्रेरित रही है । इस दृष्टि से उनकी अन्तर्चेतना पर प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक, तीनों प्रकार की सौन्दर्य-भावना का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है । उपर्युक्त भाव-विषयक प्रेरणाओं के अतिरिक्त उन्होंने कला-क्षेत्र में भी हिन्दी की वर्तमान काव्य-धारा को विशेष मौलिक छवि प्रदान की है । आगे हम उनके काव्य की विविध भावनात्मक विशेषताओं पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे ।

## रस-निरूपण

मानव-जीवन की विविधता के प्रभावमय प्रतिपादन के लिए काव्य में प्रसंगानुसार उचित रस की समष्टि नितान्त आवश्यक होती है । यद्यपि यह सत्य है कि इस रस-विविधता के संयोजन के लिए मुक्तक कविताओं की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों में अधिक अवकाश रहता है तथापि पन्त जी ने अपनी मुक्तक कृतियों में ही शृंगार, शान्त, करुण एवं वत्सल नामक रसों का उपयुक्त संयोजन किया है ।

की अपूर्व शक्ति है। उनकी भाषा भावों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। उदाहरणार्थ 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में गहन सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाली कोमल भाषा का प्रयोग है; 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' और 'स्वर्ण-धूलि' में नैतिक जीवन की ऋजुता को सरल शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है और 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण-धूलि' आदि में वैदिक ऋचाओं के आर्ष शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा में भावों के पवित्र संस्कार को आयोजित करने की चेष्टा की गई है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पन्त जी के काव्य में पूर्ण कला-वैभव वर्तमान रहा है और उन्होंने चित्र-सृष्टि, अलंकार-प्रयोग, छन्द-प्रयोग और भाषा-योजना आदि के सभी क्षेत्रों में अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। वास्तव में खड़ी बोली को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने वाले कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च है।

: १९ :

# 'निराला' जी की दार्शनिकता

'दर्शन' से हमारा तात्पर्य अध्यात्म-तत्व से है। भारतीय साहित्य में प्राचीन युग से ही दार्शनिक विचारों का प्राधान्य रहा है। 'निराला' जी के काव्य में भी अध्यात्म-तत्व का व्यापक प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने अपने दार्शनिक काव्य की रचना करते समय निम्नलिखित भाव और कला-विषयक विशेषताओं से सहयोग लिया है :—

(१) **कल्पना-तत्व:—**

यद्यपि यह सत्य है कि दर्शन जैसे शुष्क विषय में कल्पना और रसावेग के लिए अधिक स्थान नहीं है तथापि 'निराला' जी ने अपनी तत्सम्बद्ध कविताओं में कल्पना के उपयुक्त समावेश द्वारा भावों को गहनता, सरसता और सहजता प्रदान की है। वास्तव में उन्होंने अपने दार्शनिक काव्य में विचार, भावना और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रित रूप उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में आत्मा और परमात्मा के विभिन्न पारस्परिक सम्भाव्य सम्बन्धों के कल्पना के आधार पर रम्य अभिव्यक्ति प्रदान की है।

(२) **प्रकृति-तत्व:—**

'निराला' जी ने नवीन छायावादी भाव-धारा से प्रेरणा ग्रहण कर अपने काव्य के इतर विषयों में प्रकृति का समावेश करने के साथ-साथ महादेवी जी की भाँति उसकी छवि को दार्शनिक जगत् में संचरित करते

हुए विभिन्न प्राकृतिक तत्वों के सहयोग से अनेक दार्शनिक जटिलताओं को आकर्षक रीति से स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में उन्होंने मानव-जगत् के साथ-साथ प्राकृतिक जगत् में भी विभिन्न दार्शनिक व्यवस्थाओं का सुन्दर समावेश किया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति को दार्शनिक चिन्तन में मग्न दिखा कर मानवीकरण की एक मौलिक परम्परा को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित कवितांश में आध्यात्मिकता की सूक्ष्म व्यंजना देखिए:—

सोचती अपलक आप खड़ी।
खिली हुई वह विरह वृन्त की,
कोमल कुन्द कली।
चमका हीरक हार हृदय का,
पाया अमर प्रसाद प्रणय का,
मिला तत्व निर्मल परिणय का
लौटी स्नेह भरी॥

(३) कला-तत्व:—

'निराला' जी ने अपने सशक्त क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के अनुकूल अपने काव्य में दर्शन-शास्त्र की रूढ़ शब्दावली का परित्याग कर नवीन आकर्षक उपमानों का विधान करते हुए अपनी भाषा को विशेष प्रौढ़ता तथा चित्रात्मकता प्रदान की है। उन्होंने प्रतीक शैली के सहयोग से भी दार्शनिक विवेचन उपस्थित किया है। इन प्रतीकों का सम्बन्ध आकाश, बादल, समुद्र आदि प्रकृति के विराट् तत्वों से अधिक मात्रा में रहा है और कवि ने इन सभी तत्वों को दुर्दम उत्साह के साथ ईश्वर-प्राप्ति के संघर्ष में भाग लेते हुए दिखाया है। सन्तोष का विषय है कि उन्होंने अबोध्य प्रतीकों की कल्पना के स्थान पर अपने प्रतीकों का संकलन हमारे व्यवहार-क्षेत्र से ही किया है।

(४) संगीत-तत्व:—

सहज प्रसारण की शक्ति से युक्त होने के कारण संगीत मानव-चेतना को तुरन्त प्रभावित करता है। 'निराला' जी ने उसके इस गुण को ध्यान में रखकर अपने दार्शनिक चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए प्रगीत शैली का सफल प्रयोग किया है। 'गीतिका' के अनेक गीतों में उन्होंने गहन दार्शनिक सिद्धान्तों को सरस अभिव्यक्ति प्रदान की है।

'निराला' जी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने से पूर्व उनके जीव, जगत्, ब्रह्म और मोक्ष-सम्बन्धी विचारों को हृदयंगम करना आवश्यक है। उन्होंने जीव को सामरस्य-सिद्धान्त के विश्वासी व्यक्ति के रूप में उपस्थित किया है। इसी कारण वह जीव को समाज-कल्याण द्वारा आत्म-बोध और ईश-प्राप्ति की ओर उन्मुख होते हुए देखना चाहते हैं। कवि ने जगत् को मायाबद्ध मानते हुए व्यक्ति को उसके प्रति करुणा का सम भाव प्रदर्शित करने का सन्देश दिया है। उन्होंने माया को अध्यात्म-तत्व की अनुभूति में स्पष्टतः बाधक तत्व न मानकर इस दिशा में उसके उपकारी तथा अनुपकारी, दोनों ही रूपों का अध्ययन उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ माया के विषय में उनके निम्नलिखित विचार देखिए:—

तू किसी भूले हुए की भ्रान्ति है
शान्ति पथ पर या किसी की गम्यता ?
शीत की नीरस निठुर तू यामिनी
या वसन्त-विभावरी की रम्यता ?

कवि ने ब्रह्म के स्वरूप को निर्धारित करते समय वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित विचार-धारा का अनुगमन किया है और ईश्वर को सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त माना है। यथा:—

व्यष्टि औ' समष्टि में समाया वही एक रूप
चिद्घन आनन्द कन्द।

—(पंचवटी-प्रसंग)

कवि ने आत्मा और परमात्मा के मध्य अनेक रमणीय सम्बन्धों की स्थापना की है। इस दृष्टि से साधक और साध्य के सामान्य सम्बन्ध के अतिरिक्त उन्होंने एक ओर तो पुत्र (साधक) और जननी (साध्य) के सम्बन्ध को स्थापित किया है और दूसरी ओर परमात्म-शक्ति की विश्व-प्रिया के रूप में कल्पना करते हुए उसमें नारी की सम्पूर्ण दिव्यता और गौरव का समावेश किया है। 'परिमल' की 'सन्ध्या-सुन्दरी' और 'वासन्ती' शीर्षक कवितायें इसी प्रकार की हैं।

'निराला' जी ने पुनर्जन्म अथवा आवागमन के अन्त को ही मोक्ष अथवा मुक्ति की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार साधक को मुक्ति, आत्यन्तिक सुख अथवा ब्रह्म में तन्मयता की स्थिति उस समय सहज भाव से प्राप्त हो जाती है जब वह सांसारिक दुखों को माया के रूप में ग्रहण कर उनका त्याग करने की अपेक्षा उनके प्रति करुणा के भाव का अनुभव कर उनके शमन की ओर प्रवृत्त होता है।

'निराला' जी ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वयं अभिव्यक्त करने के साथ-साथ उन्हें पात्रों द्वारा भी उपस्थित कराया है। आत्माभिव्यक्ति का अवकाश प्रायः उनकी गेय कविताओं में रहा है तथापि अपनी कतिपय छन्दोबद्ध कविताओं में भी उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट और संकेतात्मक, दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से जहाँ उन्होंने 'जागरण' शीर्षक कविता में संसार की नश्वरता और मायाबद्धता की स्पष्ट रूप से विस्तारपूर्वक चर्चा की है, वहाँ 'जुही की कली' में उन्होंने अपने विचारों को संकेतात्मक व्यंजना प्रदान की है।

'निराला' जी के काव्य में दार्शनिक विचारों का पात्रों द्वारा अधिक कथन नहीं हुआ है तथापि अपनी 'पंचवटी-प्रसंग' शीर्षक कविता में उन्होंने राम के मुख से अनेक दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान कराई है। इसी प्रकार उन्होंने इसमें लक्ष्मण को भी दार्शनिक चिन्तन में रत दिखाया है। राम द्वारा माया के स्वरूप का निम्नलिखित चित्रण देखिए:—

व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद,
भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते हैं।

'निराला' जी के काव्य में दार्शनिक विचार-धारा के विकास के निम्न-लिखित रूप उपलब्ध होते हैं:—

(१) **अद्वैतवाद :—**

कवि ने श्रीयुत शंकराचार्य के अद्वैतवाद के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' नामक सिद्धान्त को मानते हुए ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानकर उन दोनों के शाश्वत सम्बन्ध को ग्राह्य माना है किन्तु इसके साथ ही सामाजिक विषमताओं की अनुभूति की ओर भी वह पूर्णतः सजग रहे हैं। उन्होंने अपनी 'परिमल', 'गीतिका' और 'अनामिका' आदि रचनाओं की अनेक कविताओं में अद्वैतवादी विचार-धारा के प्रति गहन विश्वास प्रकट किया है। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर एक ओर तो वैयक्तिक साधना का समर्थन किया है और दूसरी ओर अध्यात्म-अनुभूति को केवल आत्म-विकास की अपेक्षा समाज-विकास, देश-विकास और विश्व-कल्याण के लिए उपयोगी बनाने पर बल दिया है।

'निराला' जी के अद्वैतवादी काव्य में पलायन वृत्ति का अभाव है और उन्होंने उसे जीवन्त शक्ति प्रदान करने वाला माना है। वास्तव में उन्होंने आत्मा की ब्रह्म-विषयक तन्मयता का प्रतिपादन करने के साथ-साथ जीव को सांसारिक वेदनाओं से भी सम्पृक्त रखा है। उनके अनुसार जब जीव को साधना द्वारा ब्रह्म से अद्वैत की अनुभूति हो जाती है, तब वह आत्म-दर्शन के कारण जन-सेवा की ओर अधिक सजगता के साथ प्रवृत्त हो सकता है। अपनी 'अधिवास' शीर्षक कविता में उन्होंने मानवीय संवेदना और ब्रह्म के प्रति अनुराग-भावना का व्यापक चित्रण किया है। यथा:—

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ !
भला इस गति का शेष
सम्भव है क्या
करुण स्वर का जब तक मुझ में रहता है आवेश ?

यहाँ 'करुण स्वर' पीड़ित मानवता का प्रतीक है ।

(२) **रहस्यवाद**:—

जब व्यक्ति विराट् के साथ तदाकार होने की भावना को व्यक्त करता है तब उसकी इसी आकांक्षा को 'रहस्यवाद' कहते हैं । इस रहस्य-भावना का प्रारम्भ विस्मय और जिज्ञासा से होता है और मध्य में विरह-स्थिति रहने के उपरान्त अन्त में आत्मा-परमात्मा में संयुक्त हो जाती है । स्वरूप-भेद से रहस्यवाद के भाव-प्रधान, साधना-प्रधान और चिन्तन-प्रधान रहस्यवाद नामक तीन रूप सम्भव हैं ।

'निराला' जी के दार्शनिक विचारों में रहस्यवाद का सुन्दर सामंजस्य उपलब्ध होता है । उन्होंने मधुर-भाव-सम्पन्न चिन्तन-प्रधान रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है, अर्थात् उन्होंने ईश्वरीय विभूति का चिन्तन करते हुए उससे एकीकरण की मधुर भावना को व्यक्त किया है । उनके रहस्य-वादी काव्य में साधक की साध्य-विषयक जिज्ञासा, साधक की विरह-स्थिति और साधक-साध्य के मौन मिलन की आकर्षक अभिव्यक्ति हुई है । उदाहरणार्थ साधक की विरहावस्था से सम्बद्ध उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

प्राणधन को स्मरण करते ।
नयन झरते नयन झरते ॥
× × ×
कितनी बार पुकारा, खोल दो द्वार, बेचारा ॥

(३) **मानवतावादः—**

'निराला' जी ने जीवन और जगत् की श्रेयात्मक प्रगति को मुख्य मानते हुए मानव-हित का आदर्शवादी प्रणाली से समर्थन किया है। विश्व में मानव-सुहृदता पर बल देते हुए उन्होंने अनेक श्रेष्ठ कवितायें उपस्थित की हैं। उन्होंने अपने काव्य में प्रगतिवादी अथवा जनवादी विचारधारा का प्रतिपादन इसी मानव-हित की कामना के फलस्वरूप किया है।

(४) **इतर सिद्धान्तः—**

'निराला' जी ने विश्वव्यापी परमात्म सत्ता के साथ तादात्म्य-भाव का चित्रण करते समय एक ओर तो ओजगुणमयी विराट् भावना से सम्बद्ध महान् चित्र अंकित किये हैं और दूसरी ओर मधुर दिव्य चित्र उपस्थित किए हैं। इन चित्रों के अंकन में उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त उन्होंने द्वैतवाद का भी आश्रय लिया है और 'तुम और मैं' शीर्षक कविता मे उसके सिद्धान्तों का सुन्दर समावेश किया है। इसी प्रकार उन्होंने सांख्य दर्शन के सिद्धान्त के अनुकूल त्रिगुणात्मक प्रकृति के सहाय्य से सृष्टि-विकास का चित्रण किया है। उपनिषद् युग की भारतीय ज्ञान-गरिमा का वर्णन करते हुए भी उन्होंने परोक्षतः तत्कालीन दार्शनिक वैभव का मुखर गान किया है। भक्ति व वेदान्त को परस्पर सम्बद्ध मानकर कवि ने लक्ष्मण द्वारा आद्या शक्ति 'माता' की भक्ति का उल्लेख कराया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने 'तुलसी दास' नामक महाकाव्य में 'रत्नावली' के ऐहिक रूप को 'भारती' के रूप में परिवर्तित होते हुए दिखाकर एक नवीन दार्शनिक रूप को उपस्थित किया है। इन सब से भिन्न उन्होंने 'पंचवटी-प्रसंग' में राम के मुख से अध्यात्म जगत् के भक्ति, योग, कर्म और ज्ञान आदि विविध तत्वों में ऐक्य भाव की स्थापना कराई है और इस प्रकार व्यक्ति को दार्शनिक प्रपंच से पृथक् रह कर शुद्ध उपासना का सन्देश दिया है। यथाः—

भक्ति-योग-कर्म-ज्ञान एक ही हैं,
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।

एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ,
द्वैत-भाव ही है भ्रम ॥

'निराला' जी के दार्शनिक काव्य के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जीवन-संघर्षों से प्रभावित होकर प्रारम्भ में वह व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख हुए और फिर उनका यह समष्टि-सिद्धान्त ब्रह्म-एकत्व की ओर प्रवृत हो गया। वास्तव में उनकी दार्शनिक विचार-धारा पर प्राचीन परम्परा से भिन्न स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव लक्षित होता है। इसी भिन्नता के फलस्वरूप उनके काव्य में शुद्ध दार्शनिक कवियों की रीति के अनुसार दार्शनिक धारणाओं का प्रचारात्मक तथा उपदेशात्मक रूप उपलब्ध नहीं होता।

'निराला' जी का दार्शनिक काव्य दर्शन-शास्त्र की गहनताओं और सूक्ष्मताओं से पर्याप्त मात्रा में असम्पृक्त रहकर निरन्तर भावना से समृद्ध रहा है। चिन्तन और बुद्धि-तत्व के भार से युक्त होने पर भी उन्होंने दर्शन-शास्त्रियों की भाँति गहन साधना नहीं की है और उनके दार्शनिक विचारों में कलाकार की कल्पना तथा भावुकता का सुन्दर समन्वय हुआ है। वास्तव में उन्होंने दार्शनिक जटिलताओं को भावना से पुष्टि प्रदान की है। इस प्रकार उनकी विचार-धारा साधक की अपेक्षा कलाकार के हृदय से उद्भूत होकर रह गई है और उसमें सांकेतिक अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है।

: २० :

# महादेवी के काव्य का भाव-पक्ष

महादेवी जी ने अपने काव्य की रचना करते समय छायावाद और रहस्यवाद से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है। 'उनके काव्य में रस, कल्पना, प्रकृति, दर्शन और वैयक्तिकता का जिस रूप में समावेश हुआ है उस पर इन दोनों काव्य-वादों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।' उन्होंने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है और उनके काव्य-संग्रहों में 'नीरजा', 'नीहार', 'दीपशिखा' तथा 'सान्ध्य-गीत' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वर्तमान युग की कवयित्रियों में उनका स्थान सर्वोपरि है, और भाव-पक्ष की दृष्टि से उनका काव्य अत्यन्त समृद्ध बन पड़ा है। आगे हम उनके काव्य की विभिन्न भाव-विभूतियों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे :—

## रस-नियोजन

रहस्यवादी प्रकृति से युक्त होने के कारण महादेवी जी के काव्य में करुण रस और शान्त रस का व्यापक प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रृंगार रस के भी विविध मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः अध्यात्म-भावना से रहा है। परमात्मा के वियोग में आत्मा की करुण स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने करुण रस की अनेक स्थानों पर सुन्दर योजना की है। इसी प्रकार दिव्य-शक्ति के महत्व-प्रतिपादन, आत्मबोधन और चिर-मिलन सम्बन्धी कविताओं में उन्होंने शान्त रस का सुन्दर निर्वाह किया है। उनकी 'प्राण पिक ! प्रिय नाम रे कह, शीर्षक कविता इसी शान्त रस से आप्लावित है।

महादेवी जी ने अपने काव्य में शृंगार रस को भी पर्याप्त स्थान प्रदान किया है, किन्तु यह रस अनिवार्यतः अध्यात्म तत्व से परिवेष्टित रहा है। संयोग शृंगार का चित्रण करते समय उन्होंने उसमें नायिका-भेद का भी रम्य मिश्रण कर दिया है। उदाहरणार्थ ईश्वर को पति-रूप में ग्रहण करने वाली आत्मा की निम्नलिखित उक्ति में उत्कण्ठिता नायिका का उक्ति-साम्य देखिए :--

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

उपर्युक्त पद में सामान्य नारी की प्रेम-ध्वनि भी हो सकती है। इसी प्रकार उन्होंने आत्मा के कृष्णाभिसार का भी रूपक के द्वारा सुन्दर वर्णन किया है। संयोग शृंगार की भाँति उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार की भी अनेक मार्मिक उक्तियाँ उपस्थित की हैं। उन्होंने विरह-वेदना में शौर्य-भाव का मिश्रण करते हुए नायिका को विरह-सजग रहने का उपदेश दिया है और इसी कारण वह वियोग के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख सकी हैं:—

विरह की घड़ियाँ हुई अलि,
मधुर मधु की यामिनी सी !

## रहस्यवादी प्रवृत्ति

महादेवी जी ने अपने काव्य में ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति को मार्मिक रूप में चित्रित करते हुए रहस्यवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुकूल उत्कृष्ट काव्य-रचना की है। उन्होंने अपने रहस्यवाद में जायसी के सर्ववाद क

सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होंने महात्मा कबीर की भाँति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति के रूप में चित्रित करते हुए रहस्यवाद में भावात्मकता का भी सुन्दर सम्मिश्रण किया है।

महादेवी जी की आत्मा ईश-मिलन की आशा-आकांक्षा लिये वियोग के कारण अत्यन्त विकल रही है। इस दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य में रहस्यवाद की जिज्ञासा, साधना और मिलन की तीनों स्थितियों को चित्रित किया है और इस प्रसंग में अनेक स्थानों पर अपने मौलिक चिन्तन का भी परिचय दिया है। उनके जीवन-दर्शन में एक विशेष गम्भीरता और मार्मिकता का समावेश रहा है तथा उसके आधार पर उन्होंने अपनी रहस्यवादी विचार-धारा को भी प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं अनुभूति के अभाव और स्पष्टता के प्रभाव के कारण उनके रहस्यवादी काव्य में दुरूहता का समावेश हो गया है तथापि अधिकांशतः उसमें आत्म-वेदना के अन्तर्विकास को सजीव रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। यथा:—

छिपा है जननी का अस्तित्व,
रुदन में शिशु के अर्थ विहीन;
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान,
चित्र की ही जड़ता में लीन;
दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार!

## छायावादी प्रवृत्ति

महादेवी जी ने अपने काव्य में छायावाद की कला-सम्बन्धी विशेषताओं की भाँति उसकी भाव-सम्बन्धी विशेषताओं को भी पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से उनकी कविताओं में अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा, प्रकृति का मानवीकरण, वैयक्तिकता और भावुकता आदि छायावाद की

विभिन्न भाव-विशेषताओं का समावेश हुआ है। उनके काव्य में प्राप्त होने वाला वेदनावाद और करुणा का साम्राज्य भी छायावादी भाव-धारा से प्रभावित हैं।

महादेवी जी के छायावादी काव्य में भावुकता और वैयक्तिकता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। वैयक्तिकता, स्वर्गिक् सौन्दर्य का चित्रण, कल्पना की अधिकता और विश्व की अनित्यता पर रुदन छायावाद के प्रमुख लक्षण रहे हैं और महादेवी जी के काव्य में इन सभी का सफल समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए:—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास,
देव वीणा का टूटा तार;
मृत्यु का क्षण भंगुर उपहार,
रत्न वह प्राणों का शृंगार;
नई आशाओं का उपवन,
मधुर वह था मेरा जीवन !

## प्रकृति-चित्रण

महादेवी जी ने अपनी कविताओं में कल्पना के आधार पर प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है और इसी कल्पना के आधार पर उसका मानवीकरण कर दिया है। प्रकृति की छवि का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसका मानव-जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया है और कहीं-कहीं अपनी विरह-भावना को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

महादेवी जी ने प्रकृति का चित्रण करते समय कल्पना से अत्यधिक सहायता ली है। मेघ के लिए 'चाँदनी-धुला अंजन-सा' कहकर उन्होंने इसी कल्पना-प्रियता का परिचय दिया है। उनके प्रकृति-चित्रों में ऊहात्मकता का भी समावेश हुआ है, किन्तु इस ऊहा का स्वरूप रीतिकालीन प्रवृत्ति से भिन्न है और कवयित्री ने इसमें छायावादी भावना का सम्मिश्रण कर

इसे भी सौन्दर्य-सजग बना दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने कल्पना की अधिकता और मौलिकता के आग्रह के कारण कहीं-कहीं अपने प्रकृति-चित्रों में स्पष्टता और दुरूहता का समावेश कर लिया है तथापि समष्टि रूप में उन्होंने प्रकृति के अनेक रम्य-अद्‌भुत सौन्दर्य-चित्र उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ ऊषा द्वारा नभ में किरणों के प्रसार का निम्नलिखित चित्रण देखिए:—

अज्ञात पुलिन से उज्ज्वलतर,
किरणें प्रवाल तरणी में भर,
तम के नीलम-कूलों पर नित,
जो ले आती ऊषा सस्मित—।

## इतर भावगत विशेषतायें

महादेवी जी के काव्य में भाव-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित भाव-तत्वों को भी सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है:—

(अ) *कल्पना* :—

महादेवी जी के काव्य में कल्पना को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है और अपने प्रकृति-चित्रों में उन्होंने उसका सर्वाधिक समावेश किया है। इतना होने पर भी उनकी विविध कल्पनाओं में समानता का अभाव है और कहीं-कहीं एक ही कविता में उसका निरन्तर गतिबद्ध प्रसार भी लक्षित नहीं होता तथापि यह स्थिति सर्वत्र नहीं रही है और कुछ स्थानों पर उनकी कल्पना अत्यन्त आकर्षक तथा मार्मिक हो गई है। उदाहरणार्थ जीवन और जगत् के सम्बन्ध के विषय में निम्नलिखित कल्पना देखिए:—

है अन्त हीन लय यह जग, पल पल है मधुमय कम्पन।
तुम इसकी स्वर लहरी में, धोना अपने श्रम के कण॥

(ब) *राष्ट्र-भावना* :—

महादेवी जी ने अपनी कुछ कविताओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति

से अपने राष्ट्र-प्रेम को भी व्यक्त किया है और प्रायः राष्ट्र की दुरावस्था की ओर संकेत करते हुए उनमें वेदनावाद का मिश्रण कर दिया है। यद्यपि यह उनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति नहीं है तथापि उनकी राष्ट्र-प्रेम-सम्बन्धी भावनायें निश्चय ही सुन्दर बन पड़ी हैं।

(ज) *दार्शनिकता* :—

रहस्यवादी काव्य की रचना के कारण महादेवी जी के समक्ष दार्शनिक विचार-धारा की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश विद्यमान था। उन्होंने अपने काव्य में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश किया है और इनमें से अद्वैतवाद ही उन्हें विशेष प्रिय रहा है। उन्होंने प्रकृति और पुरुष, दोनों को अनादि माना है और जीव तथा ब्रह्म में वह अभिन्नत्व की स्थिति को देखने की इच्छुक हैं। इसी प्रकार द्वैताद्वैत के अन्तर्गत उन्होंने जीव और ब्रह्म के पार्थक्य और अभिन्नत्व के सम्मिलित दर्शन किये हैं। यथा:—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम !

: २१ :

# महादेवी जी का रहस्यवादी काव्य

'रहस्यवाद' में रहस्य को आधार-रूप में ग्रहण किया गया है और इसका सम्बन्ध गुह्य अध्यात्म विद्या से है। यह एकान्तिक साधना का विषय है और इसमें परोक्ष अथवा अव्यक्त के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थिति रहती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसमें विस्मय, जिज्ञासा और प्रेम की विशिष्ट अनुभूति रहती है और चरम सीमा पर पहुँचने के अनन्तर केवल रति (प्रेम) का भाव अवशिष्ट रह जाता है। रहस्यवादी साधक के हृदय में सर्वप्रथम पार्थिव का परित्याग कर अपार्थिव की ओर अग्रसर होने की आकांक्षा जन्म लेती है। इसके उपरान्त वह अनन्त शक्ति से रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करता है और अन्त में उसे पूर्ण ऐक्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

स्वरूप-भेद के कारण रहस्यवाद के निम्नलिखित दो प्रकार सम्भव हैं—

**(१) साधनात्मक रहस्यवाद—**

इसमें ज्ञान-साधना तथा योग-साधना द्वारा ईश्वरीय रहस्य को प्राप्त करने का विधान रहता है। इस दृष्टि से महात्मा कबीर के काव्य में ज्ञान-साधना और सिद्ध तथा नाथ-सम्प्रदायों के कवियों के काव्य में योग-साधना का सन्निवेश हुआ है।

**(२) भावनात्मक रहस्यवाद:—**

इसके अन्तर्गत ज्ञान-साधना के स्थान पर प्रेम-भावना द्वारा ईश्वरीय

रहस्य को प्राप्त करने का विधान रहता है। इसके मधुर रहस्यवाद तथा प्राकृत रहस्यवाद नामक दो भेद हैं। मधुर रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा-परमात्मा के मध्य माधुर्य भाव की स्थिति रहती है और हिन्दी का सूफी-काव्य इसी प्रकार का है। प्राकृत रहस्यवाद के अनुसार व्यक्त-रूप प्रकृति में चेतना का आरोप किया जाता है और महादेवी जी के काव्य में इसी कोटि के रहस्यवादका समावेश हुआ है।

महादेवी जी छायावाद युग की कवयित्री हैं और उनके काव्य में छायावाद के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर रहस्यवाद का भी सुन्दर समावेश हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हुए छायावाद को उसकी शैली-विशेष कहा है और महादेवी जी की छायावादिता में रहस्यात्मकता के दर्शन करते हुए एक स्थान पर स्पष्ट कहा है :—

"छायावादी कहे जाने वाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं.......... अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय का भाव-केन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूट कर झलक मारती रहती हैं।"

महादेवी जी के काव्य में रहस्यवाद की विस्मय, जिज्ञासा, अनुभूति, विरह आदि विभिन्न अवस्थाओं का उचित समावेश हुआ है। इस दृष्टि से उन्होंने जीव को परमात्मा के विरह में जन्म से ही व्याकुल दिखाया है। सृष्टि के सौन्दर्य के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने की उन्हें उत्कट अभिलाषा है :—

कनक से दिन, मोती-सी रात,
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
मिटता रंगता बारम्बार,
कौन जग का वह चित्राधार ?

रहस्यवादी विचार-धारा को गहन अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उसमें अनुभूति की व्यापक स्थिति नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से

महादेवी जी के काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें कुछ स्थलों पर तो प्रेम की अनुभूति का मार्मिक चित्रण हुआ है और कहीं अनुभूति शिथिल होकर रह गई है। ऐसे स्थलों पर अनुमान और अनिश्चितता की स्थिति रही है । यथा:—

मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश।
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित विलास ।।

रहस्यवाद में विरह-वेदना की व्यापक स्थिति रहती है और इस दृष्टि से महादेवी जी के काव्य में उसका पर्याप्त विकास प्राप्त होता है । उन्होंने इस वेदना के समक्ष ईश-मिलन के अमर आनन्द की प्राप्ति को भी तुच्छ माना है । उन्होंने विरहिणी आत्मा को अनेक आशा-आकांक्षाओं से युक्त दिखाया है। कभी वह प्रिय-मिलन के सुख को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करती है, कभी अपने अस्तित्व को सर्वथा विलीन कर ईश्वर से तदाकार हो जाना चाहती है और कभी अनन्त समय तक विरह-व्यथा में लीन रहना चाहती है। इसी प्रकार उन्होंने विरहावस्था में निजी गौरव की व्यंजना उपस्थित करते हुए भी सर्वथा मौलिक भाव प्रदर्शित किये हैं । यथा:—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जाएगा तेरा ही,
पीड़ा का राज्य अंधेरा ।।

महादेवी जी ने अपने रहस्यवादी काव्य में प्रभु-मिलन के लिए उद्वेग तथा विकलता का सुन्दर परिचय दिया है। वास्तव में उन्होंने प्राचीन रहस्यवादियों की भाँति एक ओर तो ईश-मिलन के लिए आत्मा के उद्वेग का चित्रण किया है और दूसरी ओर वर्तमान युग के छायावाद-प्रभावित रहस्यवादी कवियों की भाँति निराशा की मनोवृत्ति का परिचय देते हुए ईश्वर के चरणों में प्राण-विसर्जन करने की कामना भी व्यक्त की है ।

उन्होंने ईश्वरीय मिलन की क्षणिकता पर भी विलाप किया है और इस प्रकार के मिलन को आत्मा को चिर-व्याकुल बनाने वाला माना है। किसी-किसी स्थान पर जायसी की भाँति मिलन से पूर्व साधक में सजगता के अभाव का वर्णन करते हुए उन्होंने उसे मिलन से वंचित होते हुए भी दिखाया है। यथा:—

मिलन वेला में अलस, तू सो गई कुछ जाग कर जब।
फिर गया वह स्वप्न में, मुस्कान अपनी आंक कर तब॥

महादेवी जी ने अपने रहस्यवादी काव्य में प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए प्राकृतिक छवि को चेतना की प्रेरक के रूप में अंकित करने के स्थान पर रहस्यवाद के अनुकूल उसे स्वतः चेतनामयी बना दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति के व्यक्त सौन्दर्य का समावेश हुआ है तथापि यह प्रवृत्ति निरन्तर क्षीण होती गई है। उन्होंने प्रकृति के स्पष्ट सौन्दर्य-प्रतीकों के स्थान पर उनकी अस्पष्ट गतियों अथवा छायाओं का चित्रण किया है और इसी कारण उनकी विरह-वेदना विवृत होकर रहस्यात्मक तथा दुरूह हो गई है।

महादेवी जी ने ईश्वरीय प्रेम में लीन होने पर इतर सांसारिक कार्यों का विस्मरण कर महामिलन की इच्छा को व्यक्त किया है। उन्होंने अपने काव्य में मधुर भाव से युक्त रहस्यवाद का चित्रण करते हुए उसकी अभि-व्यक्ति के लिए प्रतीक शैली का व्यापक प्रयोग किया है। उन्होंने जायसी की सर्वात्मवाद सम्बन्धी भावना के अनुसार ईश्वर की सर्वव्यापकता स्वीकार करते हुए सर्ववादमूलक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है। यथा:—

सभी में है स्वर्गीय विकास।
वही कोमल कमनीय प्रकाश॥

इसी प्रकार उन्होंने महात्मा कबीर की भांति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति के रूप में उपस्थित किया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने सहज

प्रेम-वृत्ति की स्थापना के साथ-साथ मान-भावना का भी समावेश किया है। यथा:—

सजनि, मधुर निजत्व दे,
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं ?

महादेवी जी के रहस्यवाद में आध्यात्मिक साधना का अभाव है और उसका स्वरूप केवल भावनात्मक है। उसमें विश्वास और प्रत्यक्ष प्रणय-निवेदन की स्थिति अधिक नहीं है और उसके स्थान पर केवल बुद्धि-पक्ष और प्रेम की कल्पना का प्राधान्य है। यही कारण है कि मध्य युग में जहाँ मीरा ने कृष्ण को जीवन्त सत्य माना है वहाँ महादेवी ब्रह्म को उतना सप्राण नहीं मान सकी हैं।

: २२ :

# महादेवी जी के काव्य में छायावाद

सुश्री महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९६४ में संयुक्त-प्रान्त के अन्तर्गत फर्रुखाबाद नामक स्थान में हुआ था। वह कवयित्री होने के साथ-साथ एक कुशल चित्रकार भी हैं। 'यामा' में हमें उनकी कला के ये दोनों रूप अत्यन्त विकसित परिमाण में उपलब्ध होते हैं। उनकी कविताओं में करुणा और अनुभूति के साथ-साथ आत्म-प्रकाशन की वृत्ति ही प्रबल है। 'नीहार', 'रश्मि', 'सान्ध्य-गीत', 'दीप-शिखा' और 'नीरजा', सभी में हम उन्हें आत्म-साधना का उल्लेख करते हुए पाते हैं 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में वे हिन्दी-साहित्य के सम्मुख एक श्रेष्ठ गद्यकार के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। उनकी शैली अपने में सर्वथा मौलिक और अपनत्वपूर्ण है।

महादेवी जी ने अपनी कविताओं में प्रकृति को एक चेतन व्यक्तित्व से आवेष्टित माना है। पन्त जी की भाँति उनकी कविता भी अन्तर्मुखी है, किन्तु उसमें उल्लास की अपेक्षा एक विशिष्ट दुःखवाद के स्वर ही प्रधान हैं। इस सम्बन्ध में हम उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—

छलकती जाती है दिन रैन,
लबालब तेरी प्याली मीत,

ज्योति होती जाती है क्षीण,
मौन होता जाता संगीत;
करो नयनों का उन्मीलन
क्षणिक हे मतवाले जीवन !

महादेवी जी कविता में व्यक्तिगत अनुभूति के प्रतिफलन को एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करती हैं। वह सौन्दर्य के सूक्ष्म उद्-भावन में विश्वास रखती हैं और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में काव्य का सत्य पूर्णतः जागरूक हो उठा है। वह बुद्धिवादी भाव-धारा का परित्याग कर रागात्मिका वृत्ति की ओर उन्मुख करने वाली भावनाओं को प्रश्रय प्रदान करना कहीं अधिक युक्तिसंगत समझती हैं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उन्होंने स्पष्टतः लिखा है:—

"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जावे।"

प्रस्तुत निबन्ध की रचना का उद्देश्य महादेवी जी के काव्य में छाया-वादी सिद्धान्तों का अन्वेषण करना है। हिन्दी-काव्य में छायावादी भावनाओं का उद्भव आधुनिक युग की देन है। इस काव्य मे युग की बाह्य चेतना अन्तर्मुखी होकर सौन्दर्य के प्रति अधिक सजग हो गई है। प्रारम्भ में कविवर जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी काव्य-धारा को उन्नयन प्रदान किया। उनके उपरान्त महादेवी जी ने छायावाद को एक विशेष भाव-समृद्धि और गीति सौष्ठव से विभूषित किया। उनके काव्य में छायावाद की विभिन्न भावगत और कलागत विशेषताओं का सुन्दर समावेश हुआ है। वह छायावाद को एक ओर तो प्रकृति के अन्तराल में जीवन का उद्गीथ मानती

है और दूसरी ओर उसे करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद कहती हैं। उनके काव्य में छायावाद की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं :—

(१) **वैयक्तिकता** :—

छायावादी काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति को अधिक अवसर प्रदान किया गया और विभिन्न कवियों ने इस व्यक्तिगत चेतना का विभिन्न रूपों में संयोजन किया। महादेवी जी ने अपने काव्य में वैयक्तिकता का समावेश आध्यात्मिकता की आधार-भूमि पर किया है। उन्होंने अपनी व्यक्तिवादी कविताओं में उल्लास, उत्साह, स्वाभिमान और विरह-वेदना का समावेश किया है। इनमें से वेदना की अनुभूति ही उनकी वैयक्तिकता से विशेषतः सम्बद्ध है। इस वेदना-प्रियता की दृष्टि से उनका निम्नलिखित कथन देखिए:—

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर!

(२) **कल्पनाप्रियता** :—

छायावादी काव्य में सूक्ष्म कल्पना-वैभव की स्थिति को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। महादेवी जी ने अपनी कविताओं में कल्पना के आधार पर अनेक आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं और उनकी कल्पनाएँ प्रायः मनमोहक बन पड़ी हैं। इन कल्पनाओं का सम्बन्ध अधिकतर प्रकृति से रहा है और उन्होंने कहीं-कहीं असमान कल्पनाओं के होने पर भी प्रायः कल्पना के गतिबद्ध चित्र उपस्थित किये हैं। जीवन और जगत् के विषय में उनकी निम्नलिखित कल्पना इस दृष्टि से विशेष दृष्टव्य है:—

है अन्तहीन लय यह जग, पल पल है मधुमय कम्पन ।
तुम इसकी स्वर लहरी में, धोना अपने श्रम के कण ।।

**(३) प्रकृति पर चेतना का आरोपः—**

छायावादी कविताओं में प्रकृति-सौन्दर्य की सजग अभिव्यक्ति रहती है और कवि प्रायः प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उस पर चेतना का आरोप करते हैं। महादेवी जी ने अपने काव्य में प्रकृति के सचेतन रूप को स्वस्थ अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसके अनेक सुन्दर भाव-चित्र उपस्थित किये हैं और कहीं-कहीं अपनी वियोग-भावना को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके प्रकृति चित्रों में यत्र-तत्र ऊहात्मकता भी लक्षित होती है, किन्तु छायावाद की भावात्मकता मे युक्त होने के कारण यह ऊहा रीतिकाल की प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त रही है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्य-चित्रों को उपस्थित करते समय अनेक स्थानों पर अपनी मौलिकता का श्रेष्ठ परिचय दिया है। प्रकृति का मानव-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति उनके काव्य में सर्वप्रमुख रही है। उन्होंने छायावादी भावनाओं का आधार ग्रहण करते हुए अपनी कविताओं में एक ओर तो मानवीय क्रियाओं को प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते हुए देखा है, दूसरी ओर प्रकृति में विराट् की छाया के दर्शन किये हैं और तीसरी ओर उसमें अपनी व्यक्तिगत सत्ता को छाया के रूप में समाविष्ट देखा है। निम्नलिखित पद में अपने जीवन को सांध्य-प्रकृति-रूप कहकर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया हैः—

प्रिय ! सांध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग ।
छाया सी काया वीतराग,
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन ।।

(४) विषाद-भावना:—

छायावादी काव्य में माधुर्य भाव से युक्त विषाद का चित्रण अपेक्षित रहता है। महादेवी जी ने छायावाद की वेदना और करुणा से युक्त इस दुःखवादी प्रवृत्ति का व्यापक चित्रण किया है। उनकी विरहिणी आत्मा निरन्तर तीव्र वेदना से युक्त रही है और उन्होंने उसे अपने प्राणों में इतना अधिक भर लिया है कि वेदना उनके जीवन की अभिन्न अंग बन गई है। इसी भावना के कारण उन्होंने महामिलन की स्थिति में भी तृप्ति की आकांक्षा नहीं रखी है और मिलन-सुख में भी विरह-वेदना की उत्साह-पूर्वक व्याप्ति चाही है। यथा:—

आवे बन मधुर मिलन-क्षण
पीड़ा की मधुर कसक सा।
हँस उठे विरह ओठों में—
प्राणों में एक पुलक-सा!

(५) रहस्यात्मकता:—

महादेवी जी के अनुसार विश्व की अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना छायावाद का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही 'रहस्य-वाद' नाम दिया गया। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति छायावाद और रहस्यवाद को पर्यायवाची शब्द मानती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अपनी छायावादी उक्तियों में रहस्यात्मकता का समावेश उनको इष्ट रहा है।

(६) शैलीगत विशेषताएँ:—

महादेवी जी ने अपने काव्य में छायावाद की विभिन्न शैलीगत विशेष-ताओं का भी सफल प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उन्होंने उसे जो गीत-सौष्ठव प्रदान किया है, वह विशेषतः उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त

उन्होंने प्रतीक-पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हुए अनेक सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग भी उपस्थित किये हैं। मानवीकरण की प्रवृत्ति और चित्र-शैली की योजना द्वारा भी उन्होंने अपने काव्य को छायावादी कला का सौष्ठव प्रदान किया है। उन्होंने चिर-प्रचलित स्थूल उपमानों के स्थान पर सूक्ष्म और मौलिक उपमानों का प्रयोग कर छायावाद के अलंकारिक सौन्दर्य को अत्यन्त कुशलता के साथ स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखिए:—

विधु की चाँदी की प्याली
मादक मकरन्द भरी-सी।
जिसमें उजियाली रातें
लुटतीं घुलतीं मिसरी-सी॥

महादेवी जी के काव्य में समाविष्ट छायावाद की उपर्युक्त विशेषताओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की है और अपने काव्य को छायावाद की सौन्दर्य-चेतना से मण्डित करने का प्रत्येक प्रयास किया है।

: २३

# वीर-सतसई : एक दृष्टिकोण

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में वीर रस की व्याख्या करते समय उसे अन्य रसों की अपेक्षा कहीं अधिक मान्यता प्रदान की है:—

उत्तम प्रकृतिर्वीर उत्साह स्थायिभावक:

कविवर वियोगी हरि जी ने भी शास्त्रकार की उपर्युक्त सम्मति को समीचीन एवं सहज-ग्राह्य माना है। इसी कारण आलोच्य काव्य के प्रारम्भ में वीर रस की प्रमुखता को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं:—

बीर-स्थायी भाव सों सरस सर्ब रस आहिं।

सृष्टि के मूल से ही मानवीय विचार-धारा का वैज्ञानिक अध्ययन करने के अनन्तर हम देखते हैं कि इतिहास की परिवर्तनशील एवं क्रमागत परिस्थितियों में प्रत्येक जाति ने सर्वप्रथम शौर्य एवं उत्साह की प्रेरक भावनाओं के स्फुरणशील स्पन्दन का अनुभव किया है। इसी कारण विश्व-साहित्य के प्रथम प्रवर्तन में 'रामायण', 'महाभारत' 'इलियड' एवं 'ओडेसी' जैसे उन्नायक काव्य-ग्रन्थों की उद्भावना की गई। हमारे साहित्य के 'कीर्त्तिलता', 'रतन-बावनी', 'वीरसिंह-देव-चरित', 'बीसलदेव रासो' एवं 'आल्हा-खण्ड' आदि वीररसात्मक काव्य भी इसी धारणा के उत्कृष्ट प्रतीक हैं। भूषण, लाल एवं सूदन ने जनता की हृदय-गत वीर-भावना का जिन शब्दों में आख्यान किया है, वे एक अनश्वर विभूति के क्रोड़ में सम्पोषित हैं। गुप्त जी, 'एक भारतीय आत्मा', सोहन-

लाल द्विवेदी और 'दिनकर' इसी वीर-काव्य के अनन्य उद्घोषक हैं। श्रीयुत वियोगी हरि जी की 'वीर-सतसई' में भी शृंगार के अवचेतन वातावरण के स्थान पर वीरत्व के चेतन व्यक्तित्व का सजग उन्मेष प्राप्त होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के अन्तर्गत वीर रस का विवेचन उपस्थित करते समय दान, दया, धर्म एवं युद्ध की भाँति सत्य एवं पाण्डित्य आदि गुणों को भी उक्त रस के उद्बोधक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। अन्य रस-शास्त्रियों ने भी सम्बन्धित रस के 'उत्साह' नामक स्थायी भाव का एक सात्विक अथवा अहिंसात्मक स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया है। संभवतः इसी विषय-विभेद पर आस्था रखते हुए कवि ने इन सबको ग्रहण करने के साथ-साथ इनकी वास्तविकता में अपनी विरह-वीर की कल्पना को भी समाविष्ट कर डाला है। कवि के तत्सम्बन्धी विवरण का एक सुन्दर निर्दर्शन देखिए:—

धन्य, वीर, ब्रज गोपिका, तजी न रस की मेंड़।
हेत-खेत तें अन्त लौं, दियौ न पाछें पेंड़॥

वीर-भाव के अनन्य उपासक होने के कारण कविवर वियोगी हरि जी ने वीर-कवि, वीर-नेत्र, वीर-खड्ग एवं वीर-वक्ष आदि के प्रति अपने उत्कट प्रेम का प्रदर्शन किया है। रीतिकाल में जिस प्रकार महाकवि बिहारी नायिका की हृदयस्पर्शी चितवन की सम्मोहिनी शक्ति की ओर उन्मुख हुए थे, ठीक उसी प्रकार आधुनिक काल में कवि श्री वियोगी हरि ने वीर नायक के कठिन भुज-दण्डों की उपासना के प्रति अपनी गहन विश्वास-भावना को अभिव्यक्त किया है। आगे हम दोनों कवियों की जीवन-दर्शन-सम्बन्धी इन विभिन्न धराओं का क्रमशः उल्लेख करेंगे:—

(१) अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

—(बिहारी सतसई)

(२) बड़े-बड़े बर बाहु के, नहिं केते बरिबंड ।
दुवन-दर्प पै दलत जे, ते औरै भुजदण्ड ॥
—(वीर-सतसई)

राजस्थान के एक झूले के गीत में माता शिशु के कोमल हृदय में आत्म-संकल्प की एक ऐसी श्रेष्ठ भावना का स्फुरण कर देना चाहती है कि वह अपनी पृथ्वी पर अक्षुण्ण और शाश्वत अधिकार स्थापित रखने में समर्थ हो सके। 'लोरी' के रूप में वह शिशु से धीमे-धीमे कहती है:—

इळा न देणी आपणी, हालरियाँ हुलराय ।
पूत सिखावै पालणै, मरण-बड़ाई माय ॥

पुत्र भी शिक्षा के इस स्वरूप को इस कोटि तक हृदयंगम करता है कि युद्ध-क्षेत्र मे पिता के देहावसान एवं माता के सह-गमन के अनन्तर भी शून्य गृह में शत्रु-प्रवेश से सचेत रहता है :—

बाप कट्यो मायड़ बली, घर सूनो जाणीह ।
पूत अँगूठा चूंखतो, राखै निगराणीह ॥

कविवर वियोगी हरि जी ने भी 'वीर-सतसई' में शैशव के मनो-मुग्धकारी चित्र उपस्थित करते समय शिशु को केवल शिशु-रूप में ही नहीं, खड्ग-खिलौने से अपने भाग्य का निर्माण करने वाले के रूप में अंकित किया है। उत्साह और स्फूर्ति के परिमल से उसका मानस सदैव चेतन एवं रस-स्निग्ध बना रहता है। जननी के सम्मुख की गई उसकी निम्न-लिखित प्रतिज्ञा कितनी प्रभावशाली एवं गरिमामयी बनी पड़ी है :—

गो-घातक वा बाघ की, जननि खेंचिहौं पूंछ ।
तीखन डाढ़ें तोरिहौं, अरु उखारिहौं मूंछ ॥

'वीर-सतसई' का प्रस्तुत क्षेत्र भावोद्रेक की दृष्टि से उस शृंग के समकक्ष है, जहां से शौर्य की प्रेरक सरिता निरन्तर निर्बाधित रूप से वीरत्व के महा पारावार की ओर एक विशिष्ट उद्दाम गति से प्रवाहित होती रहती

है। यहाँ माता पुत्र को स्वदेश-प्रेम की ही शिक्षा देती है, चित्रकार अपनी तूलिका से वीर-चित्रों का ही अंकन करता है और आत्ममर्यादापूर्ण गौरव-भावना की रक्षा करने के लिए पौरुष सदैव राष्ट्रीय भावनाओं से ही परिवेष्टित रहता है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के पूर्व विश्राम करना शूर-वीर की मर्यादा के विरुद्ध होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अपरिचित प्रदेश में अपने शौर्य के आधार पर अपना स्थान निश्चित करने में वह विश्वास रखता है :—

आजु कहूँ तो कालिह कहूँ, नहिं एकै विश्राम।
करतु सिंह-सम सूरमा, ठौर-ठौर निज ठाम॥

कवि श्री बाँकीदास ने भी यही कहा है:—

सिंघा देस विदेस सम, सिंघा किसा उतन्न।
सिंघ जिका बन संचरै, सो सिंधा रा बन्न॥

राजस्थान के चारण-काव्य में महाराज पृथ्वीराज के शूर सामन्त श्री संयमराम की वीरता का आख्यान स्वतन्त्र रूप से अनेक स्थलों पर हुआ है। प्रेम की अपेक्षा श्रेयमार्ग का अनुसरण करने के कारण संयमराम स्तुति के पात्र हैं भी। 'वीर-सतसई' में कवि ने उनका स्मरण इस प्रकार किया है:—

रणथल मूच्छित स्वामी के, लीने प्राण बचाय।
कागनु निज तनु-मासु दै, धन्य संयमराम॥

राजस्थान के प्रसिद्ध आधुनिककालीन कवि श्री सूर्य्यमल्ल ने इस विवरण को इस प्रकार उपस्थित किया है:—

भट मो ही पहलैं पड़ै, चील्ह बिलग्गा चैक।
नैण बचावै नाहरा, आप कलैजो फैंक॥

अर्थात् "शूरवीर वही है जो स्वामी से पूर्व रण-क्षेत्र में गिरे। संयमराम ने ठीक इसी प्रकार चीलों के आक्रमण से चौंककर उनसे स्वामी के नेत्रों

की रक्षा की और उन्हें अपना हृदय भक्षण के निमित्त दिया।"

शेक्सपियर ने एक स्थल पर कहा है:—

Cowards die many a times before ther deaths,
The valiant never taste of death but once.

'वीर-सतसई' के प्रणेता ने भी लिखा है:—

कादर जीवित ही मरत, दिन में बार हजार।
प्रान पखेरू वीर के, उड़त एक ही बार॥

वियोगी हरि जी ने वीरत्व के उन्मेषकारी स्वरूप को सदैव वन्दना एवं स्तुति की दृष्टि से देखा है। पाण्डवों के अज्ञातवास के अनन्तर दुर्योधन ने दुराग्रह का आश्रय ग्रहण कर श्री कृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव को निम्नलिखित शब्दों में अस्वीकृत कर दिया था :—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

कविवर वियोगी हरि जी ने दुर्योधन के इस एकांगी एवं अव्यावहारिक दृष्टिकोण को उतनी उपेक्षा से ग्रहण नहीं किया। उन्होंने उसकी उक्ति में गर्व-मद के साथ-साथ साहस की इष्ट भावना के भी एक विशिष्ट मात्रा में दर्शन किये हैं। उसकी अन्तः स्थित वीर-भावना का स्वागत करते हुए उन्होंने उसके न्याय-विरुद्ध एवं संगनिवाह्य होने पर भी उसका सम्यक् स्वागत ही किया है :—

धनि, दुरजोधन पैज वह, यद्यपि धर्म विरुद्ध।

उपरोक्त कथन में कवि की वीर-सम्मान-भावना की उत्कृष्ट एवं असन्दिग्ध परिछाया उपलब्ध होती है। ईरान के किसी सूफी कवि ने एक स्थल पर कहा है:—

ता हमचो हिना सूदह न गरदी तहे संग।
हरगिज बकफे पाये निगारे न रसी॥

अर्थात् "प्रेमी के चरण-तल तक पहुँचना तब तक असम्भव है जब तक

साधक मेंहदी की भाँति प्रेम की पाषाण-शिला के नीचे अपने अस्तित्व को विघटित न कर दे ।"

प्रेम का प्रस्तुत आदर्श वस्तुतः वीरत्व के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार सत्य उतरता है। वियोगी हरि जी ने रण-स्थल में विजय-साधना के अभिलाषी वीर-योद्धा के हेतु भी ठीक इसी कोटि के तप का विधान किया है:—

होत सूर सरनाम कै, चूर-चूर निज अंग ।

इसका यह तात्पर्य किसी भी अवस्था में नहीं कि वीर पुरुष के अन्तस् में केवल वज्र के सदृश शुष्क कठोरता ही हो । वस्तुतः माधुर्य से अभिषिक्त कोमल भावनाओं की अवस्थिति भी अपने सहज सुन्दर रूप में केवल उसी स्थल पर सम्भव है । वियोगी हरि जी ने प्रस्तुत तथ्य का विधिवत् अनुशीलन करने के उपरान्त प्रकृत वीर के लक्षण को इस प्रकार स्थिर किया है:—

सुमृदु सिरीष-प्रसून तें, कठिन वज्र तें होय ।
प्रकृत वीरवर हीय कौ, चित्र न खींच्यौ कोय ॥

'सामधेनी' की एक कविता में कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' ने भी इसी भावना को निम्नांकित क्रम से निर्देशित किया है:—

कहाँ अर्द्ध-नारीश वीर वे,
अनल और मधु के मिश्रण ?
जिनमें नर का तेज प्रबल था,
भीतर था नारी का मन ?
एक नयन संजीवन जिनका,
एक नयन था हालाहल ।
जितना कठिन खड्ग था कर में,
उतना ही अन्तर कोमल ॥

महात्मा कबीर ने प्रेम-मार्ग की सरलता एवं ज्ञान-मार्ग की दुरूहता

का चित्रण करने के उद्देश्य से एक स्थल पर लिखा है:—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

वियोगी हरि जी ने मूलतः इसी भाव-सौन्दर्य को ग्रहण करते हुए प्रेम एवं शौर्य, दोनों को ही सामान्य जन-स्तर से कुछ पृथक् एवं उच्च भूमि पर स्थापित करने का प्रयास किया है:—

मथि-मथि अच्छर-निधि मरे, कढ़्यो न कछु वै सार।
इक प्रेमी, इक सूरमा, भये उतरि भव-पार॥

तत्व ग्रहण करने में असमर्थ रहने पर वे ही प्रज्ञा-विहीन (आन्तरिक ज्योति) व्यक्ति सौन्दर्य के सामान्य आदर्श को किस प्रकार विनष्ट कर देते हैं, इसका उल्लेख कविवर बिहारी ने इस प्रकार किया है:—

गिरि तें ऊँचौ रसिक मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु को, प्रेम-पयोधि पगारु॥

इस प्रकार के उत्तरदायित्व-विहीन प्राणियों को चेतावनी देने के लिए ही मानो वियोगी हरि जी ने आगे कहा है:—

जनि गनियौ खेलवार यौं, कठिन प्रेम-असि धार।

इसी मार्ग के सम्बन्ध में 'कठोपनिषद्' में एक पद आता है:—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

—(तृतीय खण्ड, चौदहवाँ छन्द)

अर्थात् "उक्त पथ तीक्ष्ण असि-धार के समान ही अत्यन्त दुर्लंघ्य है एवं पद-संचरण के लिए अत्यन्त अनुपयुक्त है—ऐसा मतिमान व्यक्तियों का मत है।"

वीर रस के उचित स्फुरण के लिए उत्साह-भावना की प्राण-प्रतिष्ठा सर्वाधिक अभीप्सित होती है। वीरसतसईकार ने पद-पद पर इस

भावना के महत्व को प्रस्थापित करने की चेष्टा की है। वस्तुतः गम्भीर दर्शन के उपरान्त हम देखते हैं कि वहाँ वीर-भूमि का उपयुक्त सम्मान है, स्वाधीन संस्कृति का स्वतन्त्र आह्वान है, आर्य-बाला की आत्मा में शौर्य का स्वर्गिक् प्रतिष्ठान है और साथ ही वीरों की अजेय संघर्ष-शक्ति एवं तद्‌गत भावना का उन्मुक्त स्तव-गान है। कवि के इस स्तव में भी उत्साह है, सौन्दर्य है, प्रेरणा की अदम्य शक्ति है। केवल निर्जीव एवं चेतना-शून्य प्रशंसा और प्रवंचनात्मक विचार-सरणि को वहाँ स्थान उपलब्ध न हुआ है। गोरा के विषय में कवि की निम्नलिखित सम्मानप्रद धारणा इसकी सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है:—

धनि गोरा रण-साहसी ! धँसी साँग हिय पार।
बाँधि आँत पुनि तेग लै, भयौ तुरंग असवार ॥

'वीर-सतसई' में इस प्रकार के उन्मेषकारी एवं स्वस्थ स्थल अनेक हैं। चामुण्डराय, शिवाजी और छत्रसाल, सभी ने उत्साह के रम्य स्वरूप का व्यापक सृजन तथा प्रतिपादन किया है। कवि ने प्राचीन एवं अर्वाचीन मान्यताओं तथा वीर एवं सुकुमार नायकों के मध्य अवस्थित विभेद का उल्लेख इसी उत्साह-फल की प्राप्ति के लिए किया है। यद्यपि कवित्त-छप्पय-शैली के स्थान पर दोहा-शैली को स्वीकार करने के फलस्वरूप 'वीर-सतसई' के अनेक प्रकरणों में वीर रस का पूर्ण तथा समुचित स्फुरण न हो सका है तथापि अपने युग की मान्यताओं के अनुसार यह एक सर्वथा सफल मुक्तक काव्य है। भाव-प्रधान होने के कारण अपनी श्रेणी के ग्रन्थों में इसका महत्व अप्रतिम है, भले ही वीरगाथाकालीन ग्रन्थों की तुलना में इसका स्थान गौण हो।

वियोगी हरि जी ने 'वीर-सतसई' का प्रणयन करते समय ब्रज-भाषा को ही अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम रूप में ग्रहण किया

ै, किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने उक्त भाषा के रुढ़ि-ग्रस्त चिन्हों का ाय: परित्याग कर दिया है और भाषा एवं शैली की नितान्त नूतन ्वृत्तियों को सर्वथा मौलिक रूप में प्रयुक्त करने की स्वतन्त्रता का उप-ोग किया है। अपने लक्षित विषय का यथार्थ परिशीलन करने के नन्तर उसके वर्णन में वह इतने अधिक तल्लीन हो गये हैं कि उसका मग्र अन्तर्भूत सौन्दर्य उनके सम्मुख अविलम्ब नष्ट हो गया है। यद्यपि नकी भाषा में किसी-किसी स्थल पर एकरूपता का अभाव दृष्टिगत ोता है, तथापि शैली-प्रसार सर्वत्र अविच्छन्न रूप से एकता के सूत्र में ाबद्ध रहा है। भाषा-भेद का प्रमुख कारण उनके काव्य के वर्ण्य विषयों ा अत्यधिक वैभिन्न्य है।

'वीर-सतसई' में ओज गुण के अनुरूप भाषा एवं ध्वनि की स्वाभा-विक अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु प्रसाद गुण के उपयुक्त समन्वय में भी कवि ो प्राय: सफलता का श्रेय उपलब्ध हुआ है। उनकी भाषा सरलता े रम्य स्रोत से क्रमश: वीर रस के अनुकूल प्रचण्ड एवं पराक्रममय स्वरूप ारण कर गम्भीर गर्जना करने लगती है। भाव-सौन्दर्य का अनुकूल नुगमन करने के कारण उनकी भाषा का प्रभावशाली आकर्षण विशेषत: ृष्टव्य हो गया है।

संस्कृत काव्यालोचन के विधायक साहित्य-शास्त्रियों ने कवि-कर्म को विभिन्न लक्षणों एवं उप-लक्षणों में आबद्ध करने के अनन्तर कवियों को प्रत्येक प्रकार की उचित-अनुचित स्वतन्त्रता प्रदान की है। इसी कारण उन्होंने कहा है :—

अपि माषं मषं कुर्यात्, छन्दोभंगं न कारयेत् ॥

छन्द-बद्ध रचना के इसी निरर्थक प्रयास में कवि शब्दों के शुद्ध स्वरूपों को इतना अधिक विस्मृत कर बैठे कि शब्द-विकृति काव्य के लिए एक

साधारण-सी वस्तु हो गई। कविवर वियोगी हरि जी के निम्नलिखित दोहे में हमें इसी प्रवृत्ति के लक्षण उपलब्ध होते हैं:—

किम्मत हिम्मत की नहीं, नहिं बल-बीरज तोल।
आँक्यो गयौ न आजु लों, बीर मौलि को मोल॥

आधुनिक युग में इस प्रवृत्ति को अब और अधिक प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के शब्द-विधान से काव्य में कृत्रिमता के साथ-साथ एक प्रकार की अवांछनीय अनुत्तरदायित्व की भावना का समावेश हो जाता है।

'वीर-सतसई' में कवि ने आर्य-संस्कृति के अनुकरणीय आदर्शों के प्रस्थापन को अपने काव्य के मूल लक्ष्य के रूप में अंगीकृत करते हुए मानव-मात्र के अन्तस् में वीररसात्मक एवं स्फूर्ति-प्रद भावनाओं को जागृत करने का सतत प्रयास किया है। वस्तुतः कवि ने सृष्टि के प्रत्येक चेतन-अचेतन तत्व का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से व्यापक अध्ययन किया है और तदनन्तर परम्परातग रूढ़िवाद का यथेष्ट परिहार कर अपने स्वतन्त्र एवं स्वस्थ मत की महत्ता का स्पष्ट उद्घोषण किया है। धार्मिक अनुष्ठानों की लोक-हितपरक भावना में गहन विश्वास रखते हुए भी उन्होंने उनके अन्धविश्वासात्मक स्वरूप का अत्यन्त सशक्त शब्दों में विरोध किया है। इसी कारण मुक्ति की मृगतृष्णावत् आशा में मथुरा एवं काशी के तीर्थों में परिभ्रमण करने वालों को प्रज्ञाहीन कहकर देश-रक्षा में सन्नद्ध वीरों की चरण-रज से पवित्र भूमि की वन्दना करने का परामर्श वह हमें दे सके हैं:—

अरे, फिरत कत बावरे! भटकत तीरथ भूरि।
अजौं न धारत सीस पै, सहज सूर-पग-धूरि॥

वियोगी हरि जी की आन्तरिक अभिलाषा 'वीर-सतसई' में वीर रस का पूर्ण परिपाक उपस्थित करने की अपेक्षा उसके द्वारा एक विशिष्ट

स्फुरणात्मक विवरण की सृष्टि की ओर अधिक अभिप्रेरित है। यही कारण है कि उसमें वीर-प्रशस्तियों एवं विविध उल्लेखनीय घटना-चित्रों के आयोजन की ओर कहीं अधिक ध्यान दिया गया है तथापि अपने काव्य के विविध उपकरणों में प्रेरणाशील भावनाओं का संघटन उपस्थित करने में वह पर्याप्त सफल हुए हैं। यथा:—

रण सुभट्ट वै भुट्ट लौं, गहि असि कट्टत मुण्ड।
उठि कबंध जुट्टत कहूँ, कहुँ लुट्टत रिपु-रुण्ड ॥

स्यात्‌वाद अथवा भाग्यवाद के सिद्धान्तों में उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं है। अथ से इति तक वह आत्म-विश्वास की एक प्रबल भावना को लेकर चले हैं। पति-मृत्यु-कातरा पत्नी के प्रति अपने एक आश्वासन में वह इसी विश्वास के बल पर कहते हैं कि उसके वीर पति का शौर्य सदैव वातावरण में गूँजता रहेगा :—

कहूँ दुहागिन होति है, सती सुहागिन नारि।

कवि राजा सूर्य्यमल्ल ने भी यही कहा है:—

काली चूड़ी की तजै, मंगल वेला रोय।
राउत जाई डीकरी, सदा सुहागण होय ॥

भोजपुरी के एक प्रसिद्ध ग्राम-गीत के एक अंश में माता कहती है:—

मनवा में इहे अभिलाख, इहे एक साध, इहे एक सधिया नु हो।
ललना पूत मोर होवे देस सेवक, राम से बिनति करो हो ॥

अर्थात् "मेरे अन्तर की केवल एक ही अभिलाषा है, मेरी केवल एक ही साध्य भावना है कि मेरा पुत्र स्वदेश की सेवा में अनुरक्त हो। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है।"

माता पुत्र से यह आशा करती है कि समय आने पर वह उसकी इच्छा को पूर्ण करेगा। इसी कारण 'वीर-सतसई' में यद्ध-भूमि को प्रयाण करते

हुए पुत्र से माता कहती है :—

कह्यौ माय, मुख चूमिकै, कर गहाय करबाल।
'जनि लजाइयो दूध मो, पयोधरन कौ लाल ॥'

वियोगी हरि जी ने 'वीर-सतसई' में वीर रस की उद्‌बोधक भावनाओं का सीधे स्पर्श न कर वीर-प्रशस्तियों की पृष्ठभूमि में अपनी विचार-धारा की व्याख्या करने का प्रयास किया है। हमारी दृढ़ धारणा है कि यद्यपि कवि ने आलोच्य कृति में युद्ध का सजीव वातावरण उपस्थित नहीं किया है, तथापि वीर-प्रशस्तियों के माध्यम से उन्होंने वीरत्व के प्रति हमारी सम्मान-भावना को जाग्रत कर अन्तर्वृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने के साथ-साथ उन्हें एक सर्वथा उदात्त रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह सत्य है कि मात्र नाम-स्मरण से रसानुभूति सम्भव नहीं है, तत्सदृश वाता-वरण के अभाव में रस का सम्यक् आस्वादन सहज-सिद्ध नहीं है, तथापि 'वीर-सतसई' में कवि ने वीर-स्वभाव का प्रकृत अंकन कर जिस रूप में उसका स्तव-गान किया है, वह निश्चय ही प्रेरणा, स्फूर्ति एवं काव्यमय उद्‌बोधन का सृजन करने वाला है।

'वीर-सतसई' के द्वारा कवि ने मानव के अन्तराल में शौर्य-भावना की उद्‌भावना करने की चेष्टा ही नहीं की है, अपितु व्यक्ति की सुषुप्त मानवता को चेतन गति प्रदान कर स्पन्दनशील बनाने के गम्भीर प्रयत्न भी उसमें हैं। आत्मा के मर जाने पर ही मनुष्य की भावनायें उस निम्न-तर स्तर पर अवतरित होती हैं जब स्वदेश के प्रति उसकी निर्मल प्रेम-भावना एकबारगी ही विलुप्त हो जाती है और उसके प्रति अपने महनीय कर्तव्य का विस्मरण कर वह कायरता की ओर उन्मुख होने लगता है। उस समय उसके अहम्मन्यता तथा व्यक्तिवाद के संस्कार प्रमुख होने लगते हैं। हमारे कवि ने आत्मा के इसी जड़ तत्व का निराकरण करने के लिए 'वीर-सतसई' का प्रणयन किया है।

: २४ :

# 'दिनकर' जी की 'सामधेनी'

कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सम्वत् १९६५ में बिहार प्रान्त में हुआ था। वह हिन्दी-साहित्य के गम्भीर विद्वान् हैं और उन्होंने काव्य, आलोचना तथा बाल-साहित्य के प्रति रुचि प्रदर्शित की है। उनकी काव्य-कृतियों में 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'रसवंती', 'कलिंग-विजय', 'द्वन्द्वगीत' और 'रश्मिरथी' विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी कृतियों में क्रमशः छायावाद, प्रगतिवाद और राष्ट्रीयता को ग्रहण किया है। भारतीय संस्कृति की पावनता के प्रति वह प्रारम्भ से ही आकृष्ट रहे हैं और यही कारण है कि उन्होंने इस संस्कृति के प्रति विरोध प्रदर्शित करते हुए प्रगति-वाद का परित्याग कर उसका विरोध किया है। इस समय भी वह विनोबा भावे के सांस्कृतिक महत्व से सम्पन्न भूदान-यज्ञ के सिद्धान्तों को लेकर काव्य-रचना कर रहे हैं।

'दिनकर' जी की काव्य-कृतियों में भारतीय स्वतन्त्रता के जन-आन्दोलन को उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ओजपूर्ण राष्ट्रीयता का प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में हृदय को प्रभावित कर उत्साह-मग्न करने की शक्ति का सुन्दर समावेश हुआ है। इस ओजपूर्ण वातावरण की उचित सृष्टि के लिए उन्होंने

अपनी भाषा को भी विशेष सजीव और विषयानुसार परिवर्तित होने वाली रखा है। वास्तव में उनकी कविताओं में पाठक के हृदय को प्रेरणा प्रदान करने वाली सांस्कृतिक और राष्ट्रीय भाव-धारा का सराहनीय समावेश हुआ है।

'दिनकर' जी की प्रारम्भिक कृतियों में 'सामधेनी' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें उनकी रहस्यवाद और कतिपय अन्य विषयों से सम्बद्ध स्फुट कविताओं का संग्रह हुआ है। इस काव्य में रहस्यवादी भावनाओं का क्रमिक एवं स्पष्ट विकास हुआ है। उन्होंने ब्रह्म के अन्तर में जीव को उसी प्रकार व्याप्त माना है, जिस प्रकार जल में एक बिन्दु की समष्टि रहती है अथवा जिस प्रकार मेघ-मण्डल में विभिन्न चित्रात्मक आकृतियों का समीकरण रहता है :—

ब्रह्म में जीव, वारि में बूँद।
जलद में जैसे अगणित चित्र॥

'दिनकर' जी गहन विचारक हैं। इस कारण उन्होंने संसार को क्षणिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार नश्वरताग्रस्त माना है। वस्तुतः भारतीय रहस्यवादी साधकों ने सृष्टि की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए व्यक्ति को मोहात्मक सम्बन्धों का त्याग कर ब्रह्म-साधना में लीन रहने का सन्देश दिया है। 'दिनकर' जी ने इस दार्शनिक चिन्तन का समर्थन करते हुए ब्रह्म और जीव के एकीकरण को सहज साध्य और आवश्यक माना है। सृष्टि की नश्वरतामयी स्थिति के विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्ति दृष्टव्य है:—

अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला।

इस अचेतन वातावरण का निराकरण करने का क्षमता केवल उसी परम अव्यक्त शक्ति में है। उसके एक स्पर्श-मात्र से निष्प्रभ सत्ता-विहीन तत्व में सत्य एवं शाश्वत सौन्दर्य का संचरण हो जाता है। अतः साधक का

कर्तव्य है कि वह सृष्टि के विनाशशील उपादानों से सम्बन्ध-विच्छेद कर ईश्वरीय ज्योति के साक्षात्कार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। इसी कारण कवि ने कहा है:—

ग्रहण करती निज सत्य स्वरूप,
तुम्हारे स्पर्श मात्र से धूल।
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल ॥

कवि अपने अन्तर की भौतिक भाव-राशि को सँजोये हुए इसी कारण इस आशा में बैठा हुआ है कि उसके आराध्य परमेश्वर उसकी सौन्दर्य-बोध एवं सत्य-ज्ञान की इच्छा को पूर्ण करेंगे। अपने अन्तर में व्याप्त प्रज्ञा की किरण के मूर्त रूप में दर्शन करने के लिए वह उत्सुक है। उसकी इस व्यग्रता को कवि ने निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्ति प्रदान की है :—

मृत्ति, प्रस्तर, मेघों का पुंज,
लिये मैं देख रहा हूँ राह;
कि शिल्पी आयेगा इस ओर,
पूर्ण करने कब मेरी चाह !
खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?

× × ×

शिल्पी जो मुझ में व्याप्त, विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?

'दिनकर' जी की कविताओं में क्रान्ति-भावना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। यह क्रान्ति-भावना समाज और राजनीति के क्षेत्रों के अतिरिक्त साहित्य और धर्म के क्षेत्रों में भी व्याप्त रही है। इसी कारण उन्होंने 'सामधेनी' की अनेक कविताओं में भक्ति के प्रचलित स्वरूप में भी क्रान्ति के संचार की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वास्तव में इस क्रान्ति-भाव को 'सामधेनी' के रचना-काल में मुख्य स्थान प्राप्त था और प्रायः तत्कालीन कवि इसकी अभिव्यक्ति की ओर विशेष ध्यान दे रहे थे। इस

दृष्टि से 'दिनकर' जी ने अपनी एक कविता में साहित्य की उन्नति के लिए किसी प्रेरक कवि की उपस्थिति की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। यथा :—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल, यजमान अधीर।
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ ?
देश को दे ज्वाला के तीर॥

इसी भाव को पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी विशेष पल्लवन प्रदान किया है। वह भी कवि-वाणी द्वारा समाज-क्षेत्र में क्रान्ति के आविर्भाव के दर्शन करने के विशेष इच्छुक रहे हैं। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए:—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'सामधेनी' में 'दिनकर' जी की क्रान्तिकारी भावना क्रमशः स्पष्ट होती चली गई है। इस क्रान्तिकारिता का सर्वोत्कृष्ट परिचय केवल इसी तथ्य से हो जाता है कि वह ईश्वरीय प्रतिभा के स्पष्टीकरण को केवल कवि का ही कार्य मानते हुए यह कहते हैं कि प्रारम्भ में ईश्वर का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट न था। उनके अनुसार प्रभु के अव्यक्त रूप की कल्पना कर सर्वप्रथम कवि ने ही उसे कविता के माध्यम से जनता के समक्ष उद्बोधनात्मक रूप में उपस्थित किया। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित कवितांश देखिए:—

देख रहा मैं वेदि तुम्हारी।
कुछ टिमटिम, कुछ-कुछ अँधियारी॥

× × ×

चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी।

भूल गये देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही,
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ॥
ओ अशेष, निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !

कवि की अन्तर्दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्हें गहन विश्वास है कि सृष्टि के प्रत्येक तत्व से उनका गम्भीर परिचय है। अपनी प्रतिभा के आधार पर वह अपने हृदय में प्रत्येक अव्यक्त रहस्य का समाधान करने की क्षमता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार उनकी निश्चित धारणा है कि कवि सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा रहस्य-भेदन में अधिक कुशल होता है। इस धारणा को संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है, हिन्दी में भी 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' जैसी उक्तियों द्वारा इसी विचार का समर्थन किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दिनकर' जी ने निम्नलिखित काव्य-सिद्धान्त द्वारा कवि के जिस महत्व की घोषणा की है, वह पूर्णतः उचित है:—

मेरी प्रखर मरीचि देखती,
उठा सान्द्र तम का अवगुण्ठन।
देती खोल अदृष्ट-ग्रन्थि,
संसृति का गूढ़ रहस्य पुरातन ॥

कवि के अन्तर में लोक-हित की भावना प्रधान रूप से कार्य करती है। इसी कारण 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने 'इड़ा' पर श्रद्धा की विजय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। श्रद्धा के माध्यम से ही विश्व के प्रति हमारी रागात्मक वृत्ति उन्मुख होती है और तभी हमारा व्यक्तित्व चेतना का अनुभव कर एक नवीन सन्देश का प्रसारण करता है। 'दिनकर' जी ने इस विषय में अपने विचारों को इस प्रकार उपस्थित किया है:—

थकी बुद्धि को पीछे तजकर,
मैं श्रद्धा का दीप जलाता।

बहुत दूर चलकर धरती के
हित पीयूष-कलश ले आता ।
गाता वे सन्देश कि जिनसे
स्वर्ग-मर्त्य, दोनों हैं वंचित ।।

साथ ही कवि 'दूत तुम्हारी अमर विभा का' कहकर ईश्वर की व्यापक सत्ता के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने जीव और ब्रह्म के शाश्वत सम्बन्ध की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए इस सम्बन्ध को निर्मलता के आधार पर प्रतिष्ठापित करने पर बल दिया है। इस आन्तरिक ज्योति के अभाव में साधक प्रयत्न करने पर भी ईश्वरीय ज्योति का साक्षात्कार करने में अक्षम रहता है। वस्तुतः रहस्य-वाद की मूल भावना में साधक अन्तर्दर्शन की ज्योति से सदैव प्रभावित रहता है। अनन्त से साक्षात्कार की मधुर भावना लिए वह साधना के विस्तृत पथ पर अग्रसर होता है। कवि की धारणा है कि यद्यपि साक्षात् दर्शन की उपलब्धि साधक को अभी पूर्ण रूप से नहीं हुई है तथापि मानस में उस आकांक्षा के संचरण-मात्र से निर्मलता की एक विशिष्ट रूप से उद्भावना अवश्य हो गई है। इसी कारण साधना के मार्ग में उसकी प्रत्येक क्रिया से ज्योति की किरणें फूट निकलती हैं:—

चिनगारी बन गई लहू की,
बूंद गिरी जो पग से ।
चमक रहे, पीछे मुड़ देखो,
चरण-चिन्ह जगमग-से ।।

विषय और आश्रय के मध्य कवि प्रारम्भ से ही एक विशिष्ट सम्बन्ध की स्थापना करके चला है। साधना के क्षेत्र में अनुभूति की गहनता को अत्यन्त व्यापक स्थान उपलब्ध हुआ है। साध्यगत सौन्दर्य को ग्रहण करने की अभिलाषा भक्त के अन्तराल में अत्यन्त तीव्र रूप में विद्यमान रहती है। साधक के मन में उस शक्ति के सम्बन्ध में एक प्रश्न का उदय होता है और

उसका उत्तर पाने के लिए वह उत्कण्ठित हो उठता है। बाह्य मायात्मक आवरण का परित्याग कर वह परमेश्वर के मानस-प्रत्यक्षीकरण के लिए व्यग्र होने लगता है। अपनी इच्छा की सम्पूर्ति के लिए वह स्थूल का निराकरण कर सूक्ष्म का ग्रहण करता है और विश्राम का त्याग कर अनवरत रीति से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विकल रहता है। अन्त में उसे अपने स्वप्न साकार होते हुए प्रतीत होने लगते हैं और आराध्य का स्वरूप उसके सम्मुख क्रमशः स्पष्ट होने लगता है। यथा:--

अपनी हड्डी की मशाल से,
हृदय चीरते तम का।
सारी रात चले तुम दुःख,
झेलते कुलिश निर्मम का॥

× × ×

वह देखो उस पार चमकता
है मन्दिर प्रियतम का॥

इस स्थिति के उपरान्त साधक का अन्तर आलोक की मधुर दीप्ति से मुखरित हो उठता है और उसके समक्ष प्रकृति का प्रत्येक चेतन-अचेतन तत्व एक नूतन गति का अनुभव करने लगता है। वस्तुतः यह उचित भी है, क्योंकि प्रकृति के तत्वों में ही उसकी साधना के कणों का विलीनीकरण हुआ था और इस प्रकार उक्त तत्वों का प्रतिपादन सहज-सिद्ध ही है। इसी कारण कवि कहता है:--

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर
पुण्य-प्रकाश तुम्हारा।

× × ×

जिस मिट्टी ने लहू पिया,
वह फूल खिलायेगी ही।

अम्बर पर घन बन छायेगा
हो उच्छ्वास तुम्हारा ।।

साधना-पथ की दुरूहताओं का परिचय प्राप्त कर साधक का उत्साह परिस्थितिवश नष्ट होने लगता है। उस समय उसे ऐसा प्रतिभासित होने लगता है मानो उसके अन्तर का सम्बल क्रमशः विलीन होता जा रहा है। कवि उसकी निराशा के विनाशकारी स्वरूप को आत्मा का हनन करने वाला मानता है और उसे आत्म-विश्वास की प्रेरक शक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए उद्‌बोधित करता है। इस स्थल पर अपनी भावना को स्पष्ट करने के लिए वह मनोविज्ञान के तत्वों का आश्रय लेता है। मनस्तत्व के सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति के मानस में शुष्क और स्निग्ध परिस्थितियों का सन्निहन साथ-साथ ही रहता है। ईश्वर को व्यक्ति के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर वह कहता है:—

और अधिक ले जाँच,
देवता इतना क्रूर नहीं है।
थक कर बैठ गये क्या भाई !
मंजिल दूर नहीं है ।।

अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के अनुसार संसृति को मायात्मक बन्धनों से आबद्ध माना गया है। विश्व की राग-द्वेष आदि की भावनाओं में यह अन्धकार और अधिक गहन होता चला जाता है। संसृति के इस स्वरूप के आवेष्टन में आने वाले प्राणी को दुःख का प्रतीक माना गया है। मर्त्य लोक की इस वेदना का निराकरण ब्रह्म के साक्षात्कार में ही माना जाता है। उस लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि के लिए ही पृथ्वी के अंचल से कोई स्वर गम्भीर रूप में ऊपर की ओर उठता है। कवि ने इसी कारण कहा है:—

तिमिर में स्वर का बाले दीप,
आज फिर आता है कोई।

रहस्यवादी कविताओं के पश्चात् 'सामधेनी' की दूसरी काव्य-धारा शृंगार रस की ओर प्रेरित रही है। विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन-विभाव को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। किसी को अपने ही समान दुःख से अभि-भूत देखकर आश्रय की वेदना शतगुणा हो जाती है। 'दिनकर' जी कीनिम्नलिखित कविता में किसी पथिक के गान ने श्रोता के हृदय के रस-तारों को छेड़ दिया है:—

बटोही, धीरे-धीरे गा।
बोल रही जो आग उबल तेरे दर्दीले स्वर में,
कुछ वैसी ही शिखा एक सोई है मेरे उर में।
जलती बत्ती छुला न यह निर्वापित दीप जला!
बटोही, धीरे-धीरे गा॥

उसी समय सम-दुःख-भोगी की वेदना उमड़ पड़ती है। पथिक की आन्तरिक वेदना उसके सम्मुख स्पष्ट होने लगती है और उसकी सहानुभूति के स्वर उसके अन्तस्तल को छूते हुए कहने लगते हैं:—

दगा देगया भाग? कि कोई बिछुड़ गया है अपना?
मनसूबे जल गये? कि कोई टूट गया है सपना?

विरह से व्याकुल व्यक्ति का हृदय करुणा के पारावार में डूबने-उतराने लगता है। उसकी रागिनी के कण-कण में भावावेग इतना अधिक बढ़ जाता है कि पाषाण से पाषाण हृदय भी पिघलने लगते हैं और एक गहन आवर्त्तन की अनुभूति होने लगती है। कवि ने इन उद्गारों में एक शाश्वत प्रभाव माना है। उसका विश्वास है कि विरह के एक-एक पद से सृष्टि के शुष्क तत्व भी करुणा से आप्लावित होने लगेंगे:—

लगता है, स्वर के भीतर से प्रलय बढ़ा आता है।
× × ×
अनगिनती सूखी आँखों से झरने होंगे जारी;
टूटेंगी पपड़ियाँ हृदय की, फूटेगी चिनगारी।

'सामधेनी' की कविताओं में अनुभूति की भावना सबसे अधिक गहन होकर आई है। कवि ने जीवन की प्रत्येक वृत्ति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया है। इसी कारण एक स्थल पर वह कह सके हैं:—

नेह लगाने का जग में परिणाम यही होता है,
एक भूल के लिए आदमी जीवन भर रोता है।

व्यवहार से सिद्ध है कि मानवीय अन्तर्वेदना किसी के सम्मुख स्पष्ट होने के उपरान्त क्रमशः शान्त होने लगती है। व्यक्ति की धारणा होती है कि श्रोता को उसके प्रति सहानुभूति की अनुभूति हुई, किन्तु वास्तव में अधिकांशतः यह उसका भ्रम ही होता है। विश्व उसकी वेदना का प्रायः उपहास ही करता है। इसी कारण हमारे कवि ने इस धारणा का निराकरण कर उसे अपनी ज्वाला से स्वयं ही विदग्ध होने का परामर्श दिया है:—

एक भेद है, सुन मतवाले, दर्द न खोल कहीं जा।
मन में मन की आह पचा ले, जहर खुशी से पी जा॥

'सामधेनी' में कवि ने शैली को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए सूक्तियों का उन्मुक्त प्रयोग किया है :—

(१) दुःखियों का जीवन कुरेदना भी है पाप बड़ा।
(२) अश्रु पोंछने वाला जग में विरले को मिलता॥

'सामधेनी' में कवि की अनुभूति के स्वर अत्यन्त गम्भीर, किन्तु स्पष्ट, रूप में अवतरित हुए हैं। इस प्रकार के अनभूतिपरक काव्य का अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतिभासित होने लगता है मानो कवि का जीवन एक गहन साधना का विषय है और उसके सम्यक् प्रस्थापन के लिए उसे संघर्ष के एक व्यापक चक्र में से गुज़रना पड़ता है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने अपनी सामान्य अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!

उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है ।।

संसार का स्वरूप नश्वरता से ग्रसित है । व्यक्ति की आत्मा प्रत्येक तत्व में सौन्दर्य की कल्पना करती है, किन्तु उसके दृष्टिकोण का प्रत्येक चिन्ह अन्त में सहसा विलीन हो जाता है । इस प्रकार की परिस्थितियों में आशा और आत्मविश्वास की भावनायें ही मनुष्य को सबसे बड़ा अवलम्ब प्रदान करती हैं । विश्व के मार्ग अवरोधात्मक तत्व उसकी भावनाओं की प्रत्येक गति को कुचलने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह वस्तुतः वहीं से एक प्रेरणा ग्रहण करता है । इसी प्रकार के संघर्षात्मक स्वरूप से उसका अवचेतन मानव क्रमशः चैतन्य होने लगता है और वह कविता का सृजन करने लगता है । जिसमें वेदना के साथ-साथ एक रागात्मक सत्ता का भी सन्निहन होता है:—

आदमी का स्वप्न ? है वह बुलबुला जल का;
आज उठता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, फिर भी धन्य, ठहरा आदमी ही तो ?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है ।

चन्द्रमा के कथन को कवि ने एक आरोप के रूप में ग्रहण किया है । वह कवि से कहता है:—

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते ;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सफर करते ।

कवि ने इसे एक चुनौती के रूप में देखा है । वह स्वीकार करता है कि संसार में इस कोटि के स्वप्नदर्शी व्यक्ति होते हैं, किन्तु उसका अपना व्यक्तित्व इससे सर्वथा पृथक् है और उसके अन्तर की स्फुरणा इस ओर

कदापि प्रेरित नहीं है । इस स्थल पर वह मनु और मनु-पुत्र के अन्तर को स्पष्ट करने लगता है । मनु के चरित्र का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रत्येक संघर्षशील परिस्थिति का स्पर्श पाते ही शान्ति की खोज में भागने लगते हैं, समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कभी नहीं करते, किन्तु उनके पुत्र मानव की धारणाएँ इससे पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं । उसके अन्तर में राग और बुद्धि, दोनों का ही समन्वय है और वह दोनों के सहयोग से सदैव एक पथ का निर्माण करने की ओर सचेष्ट रहता है:—

मैं न बोला, किन्तु मेरी रागिनी बोली ।

× × ×

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,<br>
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ ।

× × ×

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी<br>
कल्पना की जीभ में भी धार होती है ।<br>
वाण ही होते विचारों के नहीं केवल,<br>
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है ।।

साधना के अनन्तर आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है और वह अनन्त मिलन की आकांक्षा लिये अपने आराध्य की ओर अग्रसर होने लगती है । उस समय कवि उससे अनुरोध करता है कि वह ईश्वर के सम्मुख व्यक्ति की पीड़ा को स्पष्ट करे । मानव की घुटती हुई अभिलाषाओं और प्रकृति की उन्हें स्पष्ट करने की असमर्थता को उन्होंने इस प्रकार उद्-घोषित किया है:—

जा रही देवता से मिलने ?<br>
तो इतनी कृपा किये जाओ ।

अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ ।।

× × ×

बिम्बित है, इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भंवर;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर ।

× × ×

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की;
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की ।

'दिनकर' जी आशावादी कवि हैं। उन्हें विश्वास है कि सृष्टि के जीर्ण अंश के अन्तराल से एक नवीन सौन्दर्य का उद्भव होगा। इसी धारणा से प्रेरित होकर वह कहते हैं :—

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है ।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है ।।

कवि की 'अन्तिम मनुष्य' शीर्षक कविता में एक व्यापक सौन्दर्य और गाम्भीर्य सन्निविष्ट है। कवि के निम्नलिखित कथन में कितनी गहन करुणा की समष्टि है:—

बाल-उमंगों से देखा था,
मनु ने जिसे उभरते ।

आज देखना मुझे बदा था,
उसी सृष्टि को मरते ॥

कवि ने पाप और पुण्य के समन्वय में ही जीवन के चरम लक्ष्य की परिणति को माना है। वस्तुतः पूर्णता और रिक्तता के सम्मिलन से ही एक स्वाभाविक मूर्ति का निर्माण होता है। इनमें से किसी एक ही तत्व की प्रधानता से कृत्रिम परिस्थितियों का सृजन होता है:—

हम में अगणित देव हुए थे,
अगणित हुए दनुज भी।
सब-कुछ मिला-जुलाकर लेकिन,
हम थे सदा मनुज ही ॥

मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक तत्व अपने सहयोगी तत्व को हेय समझता है। अहम्मन्यता की इसी भावना से अभिभूत हो स्वर्ग पृथ्वी के प्रति एक व्यापक घृणा की अभिव्यक्ति करता है। इसका कारण यह है कि उसकी अनुभूति एकांगी है। विलोम पक्ष की समानान्तर गति से वह नितान्त अपरिचित है। कवि इसी भावना का इस प्रकार उल्लेख करता है:—

तब भी स्वर्ग कहा करता था,
"धरती बड़ी मलिन है।
मर्त्य-लोक वासी मनुजों की,
जाति बड़ी निर्घिन है ॥"

× × ×

काश, जानता तू कितना
धमनी का लहू गरम है।
चर्म-तृषा दुर्जेय, स्पर्श-सुख
कितना मधुर नरम है ॥

विश्व की अन्तिम रात्रि में उसके समस्त कार्य-व्यापार लुप्त हो जायेंगे। युग-युग से संचित साधना का स्वरूप इस अवस्था में क्रमशः विनष्ट होता जा रहा है :—

अन्धकार के महागर्त्त में
सब कुछ सो जायेगा।
सदियों का इतिवृत्त अभी
क्षण भर में खो जायेगा ।।

कवि का हृदय विनाश को भी सृष्टि के सन्देश-वाहक के रूप में ग्रहण करता है। अपनी अमर विश्वास-भावना को ले कर वह अपने पथ और लक्ष्य का स्वयं निर्णाण तथा संधान करता है:—

लेकिन अन्तिम मनुज प्रलय से,
अब भी नहीं डरा है।
एक अमर विश्वास ज्योति-सा
उसमें अभी भरा है ।।

× × ×

देव, तुम्हारे रुद्र रूप से
निखिल विश्व डरता है।
विश्वासी नर एक शेष है,
जो स्वागत करता है ।।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'दिनकर' जी ने अपनी 'सामधेनी' में विचारों को अत्यन्त स्पष्ट और सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके काव्य में मानव को अन्तः साधना का सफल सन्देश प्रदान किया गया है। संसार के उद्भव और नाश के प्रश्नों को लेकर उन्होंने व्यापक चिन्तन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि 'सामधेनी' में अन्य विचार-धाराओं और कलात्मक विशेषताओं की भी खोज की जा सकती है, किन्तु प्रस्तुत निबन्ध

का लक्ष्य 'दिनकर' जी के साधना-सम्बन्धी दृष्टिकोण का करना ही था। अन्त में हम ईश्वर के प्रति उनकी गहन आस्था का अन्वेषण करने वाला एक छन्द उद्धृत कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं :—

'जय हो', जिनके कर स्पर्श से,
आदि पुरुष थे जागे।
सोयेगा अन्तिम मानव भी,
आज उन्हीं के आगे॥

: २५ :

# 'दिनकर' जी के जीवन-सिद्धान्त

'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'रसवन्ती' और 'हुंकार' जैसी अमर काव्य-कृतियों के रचयिता श्रीयुत रामधारीसिंह 'दिनकर' का जीवन के प्रति अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। काव्य-जगत् में वह इस युग के एक श्रेष्ठ विचारक हैं और उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं के स्पष्ट समाधान उपस्थित किये हैं। उनकी यह प्रवृत्ति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम भूदान-यज्ञ से सम्बद्ध उनकी नवीनतम कविताओं का अध्ययन करते हैं। इन सभी कविताओं में जीवन के एक व्यापक सत्य—निर्लिप्त प्राण-निर्वहण—को श्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

'दिनकर' जी ने जीवन को निरन्तर विकासमग्न मानकर सर्वप्रथम श्रम-साधना में चिरन्तन आस्था प्रकट की है। वह मानव को कल्पनारत न देख कर उसे कर्मयोगी के रूप में देखने के इच्छुक हैं और यही कारण है कि उनके काव्य में जीवन की कृत्रिम मधु-रंगीनियों की अपेक्षा उसके ठोस सत्य को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। आकाश-भाषित के रोमांचक वातावरण की अपेक्षा उन्हें वर्तमान जीवन के दुःख-दैन्य से पीड़ित साधारण जन के वचन अधिक प्रिय हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए तर्क और कल्पना का आश्रय लेना केवल-मात्र भ्रान्ति को जन्म देना है। उनकी दृष्टि न भूत पर है, न भविष्य पर अपितु वह केवल

वर्तमान पर ही केन्द्रित है। उनके मानव को सन्तोष और विग्रह, दोनों की ही प्राप्ति वर्तमान से होती है और जब वह कर्मयोग की ओर प्रवृत्त होता है तब वे विग्रहात्मक और सन्तोषदायक प्रवृत्तियाँ भी क्रमशः विलुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ उनकी 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक कविता से निम्न-लिखित पंक्तियाँ लीजिए:—

गगन में घूमने वालो, जिसे तुम खोजते फिरते,
नहीं वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान तब भी प्रश्न रहते हैं।।
मृषा ऊहा वृथा सन्धान मन का वेद यह झूठा,
अमरता खोजते हो तुम मगर मरते चले जाते।
इधर तुम खींचते अपनी लकीरें वायु मण्डल में,
उधर आकर निरन्तर शून्य उनको एक कर जाता!

× × ×

बड़ा वह आदमी जो जिन्दगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोए बिना तन से निकलती है!

कर्मयोग की भाँति दिनकर' जी को ईश्वरीय अनुग्रह में भी अखण्ड विश्वास है। यही कारण है कि उनका कवि अपनी भौतिक भाव-राशि को सँजोए हुए परम तत्व द्वारा उसके संस्कार की आकांक्षा लेकर प्रतीक्षारत रहता है और उसी विभूति को सौन्दर्य-बोध तथा सत्य-ज्ञान कराने की शक्ति से परिपूर्ण मानता है। जीवन के प्रति 'दिनकर' जी की सामान्य दृष्टि यही है कि सर्वप्रथम व्यक्ति अपने जीवन में स्वर्णिम प्रभात की आकांक्षा करते हुए गहन परिश्रम करे और उसके उपरान्त परम शक्ति द्वारा उसके संस्कार की प्रतीक्षा करे। उनके अनुसार व्यक्ति के अन्तस् में प्रज्ञा की किरण का शान्त सन्निहन है और उसके पूर्ण रूप में दर्शन करने के लिए प्रभु के आधार को ग्रहण करना सर्वाधिक आवश्यक है।

'दिनकर' जी का जीवन-क्रम सामान्य स्वार्थ-भावना से काफी ऊपर है। उनका कर्मवाद केवल व्यक्ति के अपने हित तक ही सीमित नहीं है अपितु उसका प्रसरण सम्पूर्ण विश्व में हो गया है। उनके अनुसार सृष्टि में जीवन का आदर्श यही है कि सभी प्राणी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम करें और अन्त में उनके परिश्रम का लाभ सम्मिलित रूप से एक दूसरे को प्राप्त हो। इस लोक-साधना के लिए वह बौद्धिक आग्रह का त्याग कर हृदय-तत्व की सिद्धि पर बल देते हैं। उनकी मान्यता है कि श्रद्धा के माध्यम से ही विश्व के प्रति हमारी रागात्मिका वृत्ति ठीक प्रकार से उन्मुख हो पाती है और तभी हमारा व्यक्तित्व चेतना का अनुभव कर एक नवीन सन्देश का प्रसरण करने में सफल हो पाता है इसी कारण उन्होंने विश्व-मानवता के सिद्धान्त को भूलकर केवल अपने में तल्लीन रहने वाले व्यक्तियों का तीव्र विरोध किया है। उनके अनुसार सामाजिक विचार-धारा में सर्वत्र समशीलता होनी चाहिए अर्थात् वह उच्च और मध्यम-वर्ग अथवा वैभव और निर्धनता के मध्य में अवस्थित खाई को पाटने के इच्छुक हैं। इस अन्तर के मूल में स्पष्टत: आर्थिक वैषम्य की स्थिति रहती है। सामान्यत: इस आर्थिक वैषम्य के प्रति कवि की ओर से किसी उग्र आक्रोश की आशा नहीं की जाती, किन्तु इस विषमता के कारण दोनों सामाजिक वर्गों में जिस कल्पित संस्कृति-भेद का संचार हो जाता है वह निश्चय ही चिन्तनीय और निराकरणीय है। 'दिनकर' जी ने इस प्रकार की स्थिति को निराकृत करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करने वाली अनेक काव्य-पंक्तियों की रचना की है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए:—

ऐसा टूटेगा मोह, एक दिन के भीतर,
इस राग-रंग की पूरी बरबादी होगी।
जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा,
तब तक दिल्ली के भी तन पर खादी होगी॥

(दिल्ली, पृष्ठ २३)

इस उद्धरण के द्वारा कवि ने भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली और देश के अन्य भागों में व्याप्त वैषम्य के प्रति तीव्र विरोध प्रकट किया है। वह दिल्ली के वैभव को समाप्त करने का परामर्श नहीं देते, किन्तु उस वैभव को भारत के कोने-कोने में प्रसारित होते हुए देखने की इच्छा उनके मन में अवश्य वर्तमान रही है।

जीवन-दृष्टि का सम्बन्ध स्पष्टतः अनुभूति की मार्मिकता से है। जिस कवि ने जीव, जगत् और उनकी पारस्परिक प्रक्रियाओं का जितना ही अधिक अध्ययन किया होगा उसके काव्य में सत्य का उतना ही व्यापक अन्तर्निहन होगा। सन्तोष का विषय है कि 'दिनकर' जी ने जीवन की प्रत्येक वृत्ति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया है और यही कारण है कि उनके काव्य में प्रायः अनुभूति के स्वर अत्यन्त गम्भीर और स्पष्ट रूप में अवतरित हुए हैं, इस प्रकार के स्थलों पर कवि की भावनाएँ सामान्य स्तर से क्रमशः गम्भीरता की ओर अग्रसर होती गई हैं और सहसा उनमें एक विराट् सत्य का आविर्भाव हो गया है। उन्होंने अपनी कविताओं में व्यक्ति को मनः साधना का विशिष्ट उपदेश दिया है। उदाहरणार्थ उनके 'नीम के पत्ते' शीर्षक काव्य-संकलन की 'रोटी और स्वाधीनता' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

मन के ऊपर जंजीरों का तू,
किसी लोभ से भार न सह।
चिन्तन से मुक्त करे तुझको,
उसका कोई उपचार न सह॥
तेरे विचार के तार अधिक,
जितना चढ़ सकें चढ़ाता चल।
पथ और नया खुल सकता है,
आगे को पाँव बढ़ाता चल॥

—(छन्द-संख्या १२)

उपर्युक्त छन्द से स्पष्ट है कि 'दिनकर' जी ने अपने काव्य में मानव-जीवन का व्यापक अध्ययन उपस्थित करने का सर्वत्र ध्यान रखा है। उनके अनुसार जीवन में अभावों और वेदना की स्थिति होने पर भी एक विशिष्ट सात्विक सुषमा निरन्तर वर्तमान रहती है। वह व्यक्ति को अग-जग के समग्र रहस्यों का ज्ञाता और चिरन्तन बुद्धि से समन्वित मानते हैं। यही कारण है कि जब वह उसे अविद्या और वासना के गहन गर्त्त की ओर प्रवृत्त होते देखते हैं तब सहसा उनकी आत्मा गम्भीर वेदना का अनुभव करने लगती है और वह समग्र परिक्रियाओं को संगति-बाह्य और निन्दनीय कहने लगते हैं। वस्तुतः उन्होंने मनुष्य को सृष्टि की सर्वोत्तम कृति माना है और उसके विचारों को श्रेयात्मक कहकर आदर्श रूप में ग्रहण करने पर बल दिया है, किन्तु जब वह उसकी समग्र आदर्शवादिता को मिथ्या कल्पना और प्रवंचना में प्रवाहित होते हुए देखते हैं तब यह उन्हें मानवता का कटु अपमान प्रतीत होता है और वह इसकी तीव्र भर्त्सना करते हैं। मानवत्व की भावना को चिरन्तन मानते हुए उन्होंने इस प्रकार के दुश्शील व्यक्तियों के मानव-समाज से निष्कासन की स्पष्ट व्यवस्था दी है। आगे हम 'कुरुक्षेत्र' से उनकी इस आशय से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है,
कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज जो कुछ है, वह है,
मिट्टी में, जीवन में,
सम्यक् विधि से इसे प्राप्त कर,
नर सब कुछ पाता है,
मृत्ति-जर्या के पास स्वयं ही,
अम्बर भी आता है॥

'दिनकर' जी ने अपने काव्य में व्यष्टि-दर्शन की अपेक्षा समष्टि-दर्शन में विश्वास व्यक्त किया है। वह व्यक्ति को मूल इकाई न मानकर उसके

स्वरूप का निर्माण करने वाली सामाजिक संस्था को मुख्य मानते हैं। इसी कारण उन्होंने मानव-जीवन में व्याप्त द्वैत-भावना का तीव्र विरोध किया है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में आ जाने वाली विभेदक रेखाओं ने जिस सामाजिक असमानता को जन्म दिया है उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए वह सम-वितरण के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका निश्चित मत है कि जब तक मनष्य भौतिक दृष्टि से आत्मावलम्बी न हो जायगा तब तक विश्व में शान्ति और एकता के स्वर्णिम भविष्य का आगमन सम्भव न होगा। उनके अनुसार सम्पूर्ण ऐहिक सुखों का स्रष्टा ईश्वर है और उसी की चिरन्तन ज्योति से आविर्भूत होने के कारण प्रत्येक जीव को उसके सम-उपभोग का अधिकार है। अल्पाधिक सुख-वितरण ही समग्र आपदाओं का मूल हेतु है और इसी के निराकरण पर विश्व-वैभव की स्थिति अव-लम्बित है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए :—

यह मनुज, जो ज्ञान का आगार,
यह मनुज जो सृष्टि का शृंगार !
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो विचारो कृत्य,
यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाखण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान !

'दिनकर' जी कल्पना की अपेक्षा सत्य पर अधिक विश्वास रखते हैं, उनके अनुसार कल्पना में वातावरण के अनुसार अतिवादी मनोवृत्ति की स्थिति सम्भव है। इस स्थिति का जीवन की वास्तविकता की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है और यह प्रायः व्यक्ति को भ्रम की ओर प्रेरित करने में सहायक होती है। व्यक्ति के शरीर और उसकी आत्मा का निर्माण मिट्टी से हुआ है; उसी से उसका चिरन्तन परिचय है और उसी में उसके जीवन के सत्य का व्यापक अन्तर्निहन है। जो व्यक्ति इस सत्य का जितनी ही निकटता से परिचय प्राप्त करता है उसे जीवन में सामरस्य की उपलब्धि

उतनी ही शीघ्र हो जाती है और उसके अन्तस् में व्याप्त आलोक के प्रति सृष्टि के समग्र तत्व स्वयं ही आकृष्ट होने लगते हैं। वस्तुतः भौतिक पदार्थों की तृष्णा उसके समक्ष पूर्णतः विलुप्त हो जाती है और वह हृदय में चिदानन्द का अनुभव करने लगता है। उदाहरणस्वरूप 'कुरुक्षेत्र' की निम्नोद्धृत पंक्तियों में भीष्म का युधिष्ठर के प्रति प्रवचन देखिए:—

शान्ति नहीं तब तक, जब तक,
सुख-भोग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो !

अन्त में हमें यही कहना है कि कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' जीवन में कर्म को प्रमुख मानते हुए व्यक्ति से सामान्यतः यही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपने जीवन में उत्साह का कभी भी स्खलन न होने दे। उनके अनुसार व्यक्ति को अपने जीवन में सत्य-ग्रहण के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। व्यर्थ की मायात्मक प्रवंचनाओं और मिथ्या कल्पनाओं से पृथक् रहने पर ही व्यक्ति को अपने अभीष्ट के दर्शन उपलब्ध हो सकते हैं। उन्होंने जीवन में निष्काम कर्म, लोक-साधना, ईश-आराधना, मार्मिक अध्ययन, सम-वितरण और सत्य-ग्रहण पर सर्वाधिक बल दिया है। जीवन में स्वास्थ्य और शान्ति का विधान करने के लिए ये सभी तत्व वस्तुतः अनिवार्य भी हैं। 'दिनकर' जी ने इन्हें अत्यन्त स्पष्ट रूप से उद्भावित किया है और इनसे उनकी गम्भीर मनन-प्रणाली अथवा विचारशीलता का उत्कृष्ट बोध हो जाता है।

: २६ :

# 'हल्दीघाटी' में वीर रस

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ के रस-प्रकरण में 'उत्तम प्रकृतिर्वीर उत्साह स्थायी भावकः' कहकर वीर रस को काव्य के लिए एक अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है। विश्व-साहित्य का अवलोकन करने पर भी हम लगभग सर्वत्र वीररसात्मक कृतियों को ही सर्वप्रथम उपस्थित होते हुए पाते हैं। इसका कारण यही है कि आदिम जन-जीवन की संस्कृति मूलतः शौर्य-चेतना पर ही आधारित रहती थी। वस्तुतः वीर रस से युक्त कृतियों का अध्ययन करने पर मन में शिथिलता के स्थान पर जिस सजीवता का विधान होता है उससे रहित जीवन की कल्पना व्यर्थ ही होगी। जन-जातियों में इसी कारण आज भी विभिन्न ललित कलाओं को वीरता के अंचल अथवा पार्श्व में पोषित होते हुए देखा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसे प्रारम्भ से ही वीर रस का सहयोग प्राप्त रहा है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य को प्रारम्भ में वीर-काव्य द्वारा ही शक्ति और गति की प्राप्ति हुई थी। 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हा-खण्ड' इसी युग के प्रसिद्ध वीररसात्मक ग्रन्थ हैं। इन आदिकालीन काव्यों की भाँति ही कालान्तर में राजस्थानी भाषा में सर्वश्री बाँकीदास, पृथ्वी-राज और सूर्यमल्ल आदि चारण कवियों ने अपनी ओजपूर्ण कृतियाँ उपस्थित

कीं। वीरगाथा काल के उपरान्त यद्यपि हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में वीर-काव्य का स्वतन्त्र रूप से तो किसी भी कवि ने प्रणयन नहीं किया, तथापि गौण रूप में महात्मा कबीर ने भी शूरवीर की प्रशंसा की है, कविवर जायसी ने भी अपने 'पद्मावत' नामक काव्य में युद्धों का वर्णन किया है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने काव्य में वीर रस की सृष्टि की है।

रीति-काल में इस धारा के विकास-क्रम का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि सर्व श्री भूषण, वीर, सबलसिंह चौहान, लाल और सूदन आदि कवियों ने वीर-काव्य को पर्याप्त गति प्रदान की है। इस दृष्टि से महाकवि भषण के 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अतिरिक्त इस युग में वीर कवि ने शौर्य-चेतना से सम्बद्ध स्फुट छन्दों की रचना की, सबलसिंह चौहान ने 'महाभारत' का सृजन किया, लाल ने 'छत्रप्रकाश' की रचना की और सूदन ने 'सुजान चरित्र' उपस्थित किया। इन सभी कवियों ने अपने उत्साह-वर्द्धक प्रयत्नों से रीतिकाल के श्रृंगारिक वातावरण में वीरगाथा युग के स्फूर्तिमय वातावरण को पुनः साकार कर दिया।

उपर्युक्त काव्य-प्रगति का विश्लेषण करने के उपरान्त यह कहना आवश्यक है कि रीतिकाल में वीर-काव्यों की रचना होने पर भी उनकी प्रगति पर्याप्त मात्रा में अवरुद्ध रही। आधुनिक युग में कवियों ने इस गतिरोध को भंग करने का पर्याप्त प्रयास किया है। इस युग में श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ-वध' और 'जय-भारत' द्वारा, कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भीष्म और अभिमन्यु-विषयक स्फुट छन्दों द्वारा, वियोगी हरि जी ने 'वीर-सतसई' द्वारा, श्री श्याम नारायण पाण्डेय ने 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' द्वारा तथा श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' द्वारा वीर रस को विशेष उत्कर्ष प्रदान किया है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय इनमें से 'हल्दीघाटी' की वीर रस के दृष्टिकोण से विवेचना करना है।

आधुनिक युग के काव्यों में 'हल्दीघाटी' वीर रस का प्रथम महाकाव्य है। पाण्डेय जी के अतिरिक्त वर्तमान युग के किसी भी अन्य कवि ने महाराणा प्रताप के कार्यों का इतना विस्तृत व्याख्यान नहीं किया है, जितना इस कृति में प्राप्त होता है। यद्यपि इससे पूर्व हिन्दी में 'पृथ्वीराज रासो' और 'हम्मीर महाकाव्य' नामक दो अन्य वीररसात्मक महाकाव्य उपलब्ध होते हैं, तथापि यह खड़ी बोली में वीर रस का प्रथम महाकाव्य है। आधुनिक युग के अन्य कवियों में भी शुद्ध वीर रस का प्रतिपादन केवल वियोगी हरि जी ने अपनी 'वीर-सतसई' में ही किया है। उनके अतिरिक्त गुप्त जी, 'रत्नाकर' जी और 'दिनकर' जी आदि अन्य कवियों को अपनी कृतियों में केवल वीर रस की चेतना का विधान करना ही इष्ट नहीं रहा है, अपितु उन्होंने कतिपय अन्य विषयों का भी स्वतन्त्र रीति से वर्णन किया है।

'हल्दीघाटी' में वीर रस के समावेश का अध्ययन करते समय हम सुविधा के लिए उसको 'भाव-पक्ष' और 'कला-पक्ष' के दो उपवर्गों में विभाजित करेंगे।

## भाव-पक्ष

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि कवि ने वीर रस के उद्भावन के लिए किन विषयों को ग्रहण किया है। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम कवि कवि के पात्रों को चेतन और अचेतन व्यक्तित्व के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं। चेतन पुरुष-पात्रों में कवि ने महाराणा प्रताप, झाला, शक्तिसिंह और प्रताप के सैनिकों को ग्रहण किया है। चेतन नारी-पात्रों में उन्होंने केवल किरन को अत्यन्त संक्षिप्त भूमिका के साथ अवतरित किया है। उसके विषय में उनकी निम्नलिखित ओजमयी उक्ति प्राप्त होती है, जो प्रस्तुत काव्य में नारी-शौर्य के चित्रण के अभाव को कुछ सीमा तक दूर कर देती है :—

शिशोदिया-कुल-कन्या थी,
वह सती रही पांचाली-सी।

क्षत्राणी थी चढ़ बैठी,
उसकी छाती पर काली-सी ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने अपने काव्य में चेतन पशु-पात्रों को भी स्थान प्रदान किया है। इस दृष्टि से सिंह द्वारा अपने आत्म-सम्मान के रक्षण से सम्बन्धित प्रकरण और चेतक अश्व द्वारा अविराम उत्साह के प्रदर्शन से सम्बन्धित प्रकरण विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ चेतक के विषय में कवि की निम्नलिखित उक्ति देखिए:—

फाड़-फाड़ कर कुम्भस्थल
मदमस्त गजों को मर्दन कर।
दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा,
पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर ॥

चेतन पात्रों की भाँति 'हल्दीघाटी' में अचेतन पात्रों की ओजमयी स्थिति को भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इस दृष्टि से कवि ने एक ओर तो चित्तौड़ और हल्दीघाटी जैसी वीर-भूमियों की चर्चा की है, दूसरी ओर नगाड़ा और रणभेरी जैसे उद्बोधनात्मक संगीत-साधनों के व्यापक प्रभाव का कथन किया है और तीसरी ओर असि और भाले जैसे वीरोपयोगी शस्त्रों का उल्लेख किया है। इन सभी अचेतन पदार्थों के स्वरूपों पर प्रकाश डालते समय कवि ने कहीं-कहीं मानवीकरण की शैली का आधार ग्रहण कर अपनी उक्तियों में नाटकीयता का संचार करने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ भाले की निम्नलिखित उक्ति के माध्यम से कवि की उक्ति देखिए:—

कुछ कर सकता अरि-तन्त्र नहीं,
लग सकता अकबर-मन्त्र नहीं।
परतन्त्र नहीं, परतन्त्र नहीं,
मैं रह सकता परतन्त्र नहीं ॥

पाण्डेय जी ने प्रस्तुत कृति में महाराणा प्रताप की ओजमयी प्रतिज्ञाओं द्वारा भी वीर रस की ध्वनन-शक्ति को विकसित करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। उनके पात्रों द्वारा उपस्थित की गई वीरोक्तियाँ भी अपने आप में अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ी हैं। उदाहरणस्वरूप महाराणा प्रताप की निम्नलिखित उक्ति देखिए:—

अरि को भी धोका देना,
शूरों की रीति नहीं है।
छल से उनको वश करना,
यह मेरी नीति नहीं है॥

'हल्दीघाटी' में पाण्डेय जी की कवि-प्रतिभा का परिचय उनके द्वारा वीररसानुकूल परिस्थिति-निर्माण में सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त होता है। उन्होंने प्रस्तुत काव्य में अनेक स्थलों पर प्राकृतिक वातावरण और शौर्य-भावना में अत्यन्त मधुर सम्बन्ध की स्थापना की है। इस दृष्टि से प्राकृतिक चित्रों के माध्यम से माधुर्य गुण तथा शौर्य-भावना के कथन के द्वारा ओज गुण को उन्होंने जिस सम्मिलित रूप में उपस्थित किया है, वह हिन्दी के वीर-काव्य में अत्यन्त विरल है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए:—

केसर से निर्झर-कूल लाल,
फूले पलास के फूल लाल।
तुम भी वैरी-शिर काट-काट,
कर दो शोणित से धूल लाल॥

पाण्डेय जी ने अपने काव्य-नायक महाराणा प्रतापसिंह के शौर्य का व्यापक चित्रण किया है। यह शौर्य-कथन महाराणा प्रताप की वीरोक्तियों, उनके पक्ष के व्यक्तियों की उक्तियों और कवि की उक्तियों के माध्यम से तो हुआ ही है, इनके अतिरिक्त कवि ने शत्रु द्वारा ही अपने चरित-नायक की प्रशंसा कराई है। इस दृष्टि से सम्राट् अकबर और राजा मानसिंह,

दोनों ने ही उसकी प्रशंसा की है। चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में इस कौशल का परिचय देने के अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी कवि ने युद्ध-क्षेत्र के वातावरण को इस भाँति उपस्थित किया है कि सामान्यतः उसके अध्ययन से यह प्रतीति हो जाती है कि कवि ने उसे प्रत्यक्ष-दर्शन की स्थिति से रहित होने पर भी उस प्रकार का प्रयास अवश्य किया है। उन्होंने अपने युद्ध-वर्णन में स्फूर्ति-तत्व के आयोजन की ओर विशेष ध्यान दिया है। उदाहरणस्वरूप महाराणा प्रताप के पक्ष के सैनिकों की रण-तत्परता का एक उदाहरण देखिए:—

कोदण्ड-चण्ड रव करते ,
वैरी निहारते चोटी ।
तब तक चोटी वालों ने,
बिखरा दी बोटी-बोटी ।।

वीर-स्तव-गान भी वीर रस का एक अवान्तर विषय है। इस दृष्टि से 'हल्दीघाटी' में मुख्यतः दो प्रकार का स्तवन प्राप्त होता है। एक तो कवि ने महाराणा प्रताप तथा झाला की स्तुति में छन्द-रचना की है और दूसरी ओर महाराणा प्रताप द्वारा चेतक की प्रशंसा कराई है।

## कला-पक्ष

'हल्दीघाटी' के कला-पक्ष का अध्ययन यहाँ उसके सामान्य कलात्मक गुणों का विश्लेषण करने के लिए नहीं किया जा रहा है, अपितु हम यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि उसमें वीर रस के पोषण में कला-तत्वों ने कहाँ तक सहयोग प्रदान किया है। अतः इस दृष्टि से हम आलोच्य कृति की भाषा और शैली पर विचार करेंगे। भाषा की दृष्टि से यह अवलोकनीय है कि जहाँ हिन्दी के वीर-काव्य की मुख्यतः डिंगल भाषा में रचना हुई है वहाँ पाण्डेय जी ने इस काव्य की रचना खड़ी बोली में की है। यद्यपि अपनी मधुर शब्दावली के कारण खड़ी बोली वीर-काव्य की रचना के

लिए पूर्णतः उपयुक्त नहीं है, तथापि उन्होंने अपनी भाषा को द्वित्व-प्रधान वर्णों और अनुस्वार आदि के सहयोग से वीररसोचित बनाने काप्रयास किया है। उनकी भाषा प्रायः प्रसादगुणमयी रही है, किन्तु उसमें ओज गुण का भी उपयुक्त सम्मिश्रण उपलब्ध होता है।

शैली-प्रयोग की दृष्टि से 'हल्दीघाटी' का क्षेत्र पर्याप्त विविधतामय रहा है। कवि ने इसमें विभिन्न प्रचलित शैलियों द्वारा वीर रस को उचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से उन्होंने उद्‌बोधन शैली के प्रयोग द्वारा महाराणा प्रताप को अपने सैनिकों का रण के लिए आह्वान करते हुए दिखाया है, सम्बोधन शैली द्वारा युद्ध-स्थल में महाराणा प्रताप को राजा मानसिंह को सम्बोधित कर वीरोक्तियों का कथन करते हुए दिखाया है और इन दोनों शैलियों को मिश्रित करते हुए अत्यन्त कौशलपूर्वक वीर-सम्बोधन और वीर-उद्‌बोधन का दृश्य अंकित किया है। यथा :—

वीरो, अरि को दो ललकार,
उठो, उठा लो भीम कटार।
घुसा-घुसा अपनी तलवार,
कर दो सीने के उस पार॥

इन तीनों शैलियों के अतिरिक्त प्रस्तुत कृति में वर्णनात्मक शैली को भी प्रचुर स्थान प्राप्त हुआ है। वस्तुतः इस काव्य में इसी शैली का आधिक्य है। इसी प्रकार राजस्थानी शैली का आश्रय लेकर कवि ने राजस्थान के वर्तमान चारण-काव्य में प्राप्त होने वाली स्फूर्तिप्रद सम्बोध-गति को भी अपनी रचना में स्थान दिया है। उदाहरणार्थ उनका निम्न-लिखित छन्द देखिए:—

आगे बढ़कर भुजा पसार,
बोला आँखों से जल ढार।
रुक जा, रुक जा, ऐ तलवार,
'नीला - घोड़ारा-असवार ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति में कवि ने भाव-पक्ष और कला-पक्ष, दोनों की दृष्टि से वीर रस को पूर्णता की ओर ले जाने का सराहनीय प्रयत्न किया है ।

## तुलनात्मक अध्ययन

आधुनिक युग की वीररसात्मक रचनाओं में वियोगी हरि जी की 'वीर-सतसई' और पाण्डेय जी की 'हल्दीघाटी' को प्रतिनिधि स्थान प्राप्त है। अतः इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि विषय-विभाजन की दृष्टि से इन दोनों काव्यों में पर्याप्त विस्तार का आश्रय लिया गया है। इन दोनों में ही वीर रस के चेतन और अचेतन उपकरणों के उल्लेख की ओर ध्यान दिया गया है और भाषा का ओज तथा शैली का वैविध्य भी दोनों में समानतः दर्शनीय है तथापि जहाँ 'वीर-सतसई' की रचना ब्रजभाषा में स्वतन्त्र दोहों के रूप में हुई है, वहाँ 'हल्दीघाटी' का प्रणयन खड़ी बोली में एक महाकाव्य के रूप में किया गया है। समग्रतः अध्ययन करने पर हम पाएँगे कि इन कृतियों में 'हल्दीघाटी' का स्थान ही अधिक महत्वपूर्ण है। इस श्रेष्ठता के निम्नलिखित कारण हैं––

(१) काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'वीर-सतसई' का 'हल्दीघाटी' के समक्ष गौण स्थान है। इसका कारण यह है कि 'हल्दीघाटी' में उसकी अपेक्षा कल्पना का अधिक सफल आश्रय लिया गया है, उसमें अनेक उन्मेषप्रद वर्णनों को स्थान दिया गया है और छन्दों तथा अलंकारों की योजना करते समय भी अधिक विविधता का परिचय दिया गया है। इस प्रकार इस कृति में एकसूत्रता का विभव भी अधिक मात्रा में वर्तमान रहा है।

(२) इस कृति में 'वीर-सतसई' की अपेक्षा प्रकृति और शौर्य के बीच में अधिक घनिष्ट सम्बन्ध की स्थापना की गई है। यद्यपि यह सत्य है कि

वियोगी हरि जी ने भी इस आवश्यकता की ओर ध्यान दिया है, तथापि 'हल्दीघाटी' की अपेक्षा उनके वर्णन गौण ही हैं। आगे हम तुलनात्मक अध्ययन के लिए इन दोनों ही कृतियों से उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

(i) सोभित नील असीन पै, रुधिर-बिन्दु-कृत जाल।
लसति तमाल-लतान पै, मनहुँ बधूटी माल ॥

—(वीर-सतसई)

(ii) उस ओर आम पर कोयल ने,
जादू भर कर वंशी टेरी।
इस ओर बजाई वीर-व्रती—
राणाप्रताप ने रण-भेरी ॥

—(हल्दीघाटी)

प्रस्तुत आलोचनात्मक कृतियों में वीर रस के समावेश की दृष्टि से एक अन्य विशेष अन्तर भी लक्षित होता है। 'वीर-सतसई' में वीर रस की स्थिति होने पर भी उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है, क्योंकि वहाँ वीर रस के उन्मेषप्रद वातावरण अथवा युद्ध-वर्णन के स्थान पर वीर प्रशस्तियों का प्राधान्य रहा है। ये वीर-स्तवन महाराणा प्रताप, महाराज शिवाजी एवं महाराणा छत्रसाल आदि वीर-नायकों से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त महात्मा गांधी और लोकमान्य तिलक जैसे व्यक्तियों से भी सम्बन्धित रहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन वीर-प्रशस्तियों में वीर रस के परम्परा-प्रचलित रूप की अपेक्षा उसे एक नवीन रूप में ग्रहण किया गया है, किन्तु आलोचना के क्षेत्र में वीर रस की यह नवीन मर्यादा उतनी मान्य नहीं है, जितनी 'हल्दीघाटी' में व्याप्त वीर रस की पृथुल अन्तर्धारा को मान्यता प्राप्त है। आगे हम परिचय के लिए 'वीर-सतसई' से महाराणा प्रताप से सम्बद्ध एक उत्कृष्ट वीर-प्रशस्ति उद्धृत करते हैं:—

अणु-अणु पै मेवाड़ के, छपी तिहारी छाप।
तेरे प्रखर प्रताप तें, राणा प्रबल प्रताप ॥

इस प्रकार के वीर-स्तवन 'हल्दीघाटी' में भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु. उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। अतः यह निर्विवाद स्पष्ट है कि कविवर श्यामनारायण पाण्डेय ने श्रीयुत वियोगी हरि की अपेक्षा अपने काव्य में वीर रस का अधिक सफल आधार पर समावेश किया है और हिन्दी के वीर-गाथा-काव्य की अमर-अक्षुण्ण परम्परा के विकास में उनकी 'हल्दी-घाटी' ने पर्याप्त योग प्रदान किया है। आगे मैं अपनी 'आधुनिक सतसई' से प्रस्तुत कृति के विषय में एक दोहा उपस्थित कर इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ :—

'हल्दी घाटी' में निहित, अमर शौर्य की ज्वाल।
प्रति पद में राणा जहाँ, रहे शत्रु को साल ॥

: २७ :

# हल्दीघाटी : एक अध्ययन

'हल्दीघाटी' वर्तमान युग के वीर रस के प्रख्यात कवि श्री श्याम-नारायण पाण्डेय की वीररसात्मक कृति है। यह चित्तौड़-नरेश महाराणा प्रताप के जीवन को लेकर लिखा गया महाकाव्य है और इसका अध्ययन करने पर सामान्यतः अकबरकालीन राजनैतिक स्थिति तथा तत्कालीन राजपूत नरेशों की कार्य-प्रणाली का अच्छा परिचय उपलब्ध हो जाता है। प्रस्तुत काव्य में प्रायः महाराणा प्रताप के शौर्य का आख्यान ही मुख्य वर्ण्य-विषय रहा है और कवि ने केवल काव्य के प्रारम्भ के 'नमस्कार' शीर्षक प्रकरण में तथा विविध प्रकृति-वर्णनों में ही भाव-परिवर्तन किया है। इस लेख में हम आलोच्य कृति के भावात्मक तथा कलात्मक सौन्दर्य का मूल्यांकन करने के अतिरिक्त उसके महाकाव्यत्व पर भी विचार करेंगे।

## भावात्मक सौन्दर्य

'हल्दीघाटी' का भाव-सौन्दर्य वीर रस के उपयुक्त समावेश, प्रकृति वर्णनों की सुचारुता और यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले कल्पना के उत्कृष्ट प्रयोग पर आधारित है। वीर रस के क्षेत्र में कवि ने इसमें रस-सृष्टि के लिए चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पात्रों को स्थान प्रदान किया है। चेतन पात्रों में महाराणा प्रताप, वीरवर झाला, राजपूत वीर ललना किरन और साहसी अश्व चेतक उल्लेखनीय हैं। अचेतन पात्रों में कवि ने असि,

भाला, रणभेरी आदि शौर्य-जागृति में सहायक उपकरणों का उल्लेख किया है। इनके स्वतन्त्र स्वरूप-कथन के अतिरिक्त पाण्डेय जी ने इसमें महाराणा प्रताप के चरित्र को स्पष्ट करते समय वीर-प्रशस्ति-रचना की प्रणाली का आश्रय भी ग्रहण किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक ने पूर्व-कथन के रूप में भी विस्तृत गद्यात्मक प्रशस्ति-रचना उपस्थित की है।

अकबर कालीन राजनैतिक स्थिति का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उस समय बूँदी, अजमेर और बीकानेर आदि विभिन्न राज्यों के राजपूत नरेश सम्राट् अकबर के अधीन थे और केवल महाराणा प्रताप ने ही साहस-पूर्वक उनके प्रति विरोध प्रकट किया था। ऐसे उत्साही काव्य-नायक के चरित्र का अंकन करते समय कवि को स्वतः भी विशेष उत्साह का परिचय देना होता है। सन्तोष का विषय है कि यत्र-तत्र वर्णनात्मक प्रसंगों की स्थिति होने पर भी प्रायः आलोच्य काव्य में वीर रस के स्फूर्तिप्रद वर्णन उपस्थित किये गये हैं और उनका अध्ययन करने पर साधारणतः यह प्रतीति हो जाती है कि कवि ने सम्बद्ध वर्ण्य विषय की सजीवता को पूर्णतः हृदयंगम किया हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'हल्दीघाटी' में वीर रस से सम्बद्ध उपकरणों की अभिव्यक्त को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसके उपरान्त कवि का ध्यान प्रायः प्रकृति-चित्रण पर केन्द्रित रहा है और इस प्रकार प्राकृतिक सुषमा का वीर रस के पृष्ठाधार में उल्लेख उनकी कविता का द्वितीय प्रमुख विषय रहा है। इस प्रकार के शौर्य-मिश्रित प्रकृति-चित्र हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त विरल हैं और यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि प्रस्तुत काव्य में कवि ने प्रकृति-चित्रों के माधुर्य तथा शौर्य-चित्रों के ओज-गुण में नितान्त सफल समन्वय की स्थापना की है। तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस काव्य में प्रकृति के स्वतन्त्र छवि-चित्रों का सर्वथा अभाव है। इसके विपरीत वस्तु-स्थिति तो यह है कि कवि ने सिंह, गज, अन्य वन-पशुओं, गिलहरी, मधुकर, पुष्प, वृक्ष, निर्झर और पक्षी-समुदाय आदि

प्रकृति के विभिन्न अंगों के स्वरूप का स्वतन्त्र रीति से सफल कथन किया है। उदाहरणार्थ भ्रमर-समुदाय के विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

मधु पिला-पिला तरु-तरु को,
थी बना रही मतवाला।
मधु-स्नेह-वलित बाला-सी,
थी नव मधूक की माला॥

इन प्रकृति-चित्रों को उपस्थित करते समय कवि ने कल्पना का भी यथा-स्थान प्रयोग किया है और अनेक स्थानों पर उनके द्वारा की गई कल्पनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ वीर रस के कवि के अनुकूल ही उनकी निम्नलिखित अद्भुत कल्पना देखिए:—

पौ फटी, गगन-दीपावलियाँ,
बुझ गईं मलय के झोंकों से।
निशि, पश्चिम, विधु के साथ चली,
डर कर भालों की नोकों से॥

## कलात्मक सौंदर्य

जिस प्रकार 'हल्दीघाटी' के भाव-पक्ष में सर्वत्र सरल भावों को ग्रहण करने का प्रयास किया गया है उसी प्रकार कला-क्षेत्र में भी उसमें अभिव्यक्ति के सरल रूप को उपस्थित किया गया है। इस दृष्टि से इस काव्य की भाषा का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि कवि ने उसे जन-भाषा के क्षेत्र से ग्रहण किया है और उनके शब्द-चयन में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। पाण्डेय जी ने स्वयं भी अपने अन्तर्साक्ष्य द्वारा इस मत की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

"हल्दीघाटी में कुछ मेरे उन प्रिय शब्दों का प्रयोग हो गया है जिन्हें मैं माँ की गोद से ही बोलता आ रहा हूँ। मुझे वे अत्यन्त प्रिय हैं और अपने देश के हैं। जब 'हल्दीघाटी' की रचना मेरी ही लेखनी द्वारा हुई है तब उनका

इसमें रहना स्वाभाविक भी है और उनके समझने के लिए किसी कोष की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अत्यन्त बोधगम्य हैं, इसलिए उनका निकालना आँखें निकलवा लेने के बराबर है।"

—(भूमिका, पृष्ठ २५)

वीर रस के उत्कृष्ट भावों को इतनी सरल-स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण ही यह काव्य अत्यन्त जन-प्रचलित हो सका है। सम्भवतः इसी कारण इस पर देव-पुरस्कार भी प्रदान किया गया था। इसमें गुण-निर्वाह की दृष्टि से माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीनों प्रमुख गुणों का प्रयोग हुआ है और यही कारण है कि इसकी भाषा भी अनेकरूपा रही है। शब्द-प्रयोग के आधार पर इसका अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि इसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त लैरू (बछड़ा) और पगुरातीं (जुगाली करतीं) जैसे लोक-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार उस युग में यवन-संस्कृति के प्रसार को लक्षित करते हुए कवि ने इसमें 'आज़ाद', 'बरबाद' और 'कुर्बान' जैसे उर्दू भाषा के शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। वीररसपूर्ण काव्य होने के कारण उन्होंने इसमें द्वित्व-प्रधान वर्णों और अनुस्वार आदि के सम्यक् प्रयोग द्वारा भी स्वाभाविकता के रक्षण का प्रयास किया है। आगे हम इस काव्य में प्रयुक्त भाषा के विविध रूपों को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

(क) संस्कृतमयी भाषाः—

अज्ञात रूप, अज्ञात नाम,
अविराम-धाम, अज्ञात-काम।
क्षण अस्ति-नास्ति भ्रममय अपार,
घनश्याम राममय नमस्कार ॥

(ख) साधारण सहज-ग्राह्य भाषाः—

हा ! चेतक, तू पलकें खोल,
कुछ तो उठकर मुझसे बोल ।
मुझको तू न बना निरुपाय,
मत बन मुझसे निठुर अबोल ।।

(ग) ध्वन्यात्मक भाषा:—

कल-कल छल-छल भर स्वर तान,
कहकर कुल-गौरव अभिमान ।
नाले ने गाया स-तरंग,
उनके निर्मल यश का गान ।।

अलंकार-प्रयोग की दृष्टि से विवेचना करने पर भी हम देखते हैं कि 'हल्दीघाटी' में कवि ने उनकी योजना करते समय कृत्रिमता के स्थान पर स्वाभाविकता को ही प्रश्रय प्रदान किया है । यही कारण है कि इसमें अलंकार-प्रयोग करते समय विविधता और व्यापकता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में कवि ने पूर्णतः निर्बन्ध रीति से काव्य-रचना की है तथापि उनके द्वारा अनुप्रास, यमक, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि विविध शब्दालंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है । उदाहरणार्थ उपमा अलंकार का निम्नलिखित सरल प्रयोग देखिए:—

भैरव धनु का टंकार करो ।
तुम शेष सदृश फुंकार करो ।।

छन्द-प्रयोग की दृष्टि से 'हल्दीघाटी' में मात्रिक छन्दों का व्यवहार किया गया है । इसमें प्रमुखतः लावनी, ताटंक, सार, हरिगीतिका और विधाता नामक छन्द प्रयुक्त हुए हैं । इन छन्दों में आन्तरिक तुक-साम्य की योजना द्वारा कहीं-कहीं काव्य-गति को अत्यधिक प्रवाहपूर्ण बनाने का सफल प्रयास किया गया है । पाण्डेय जी ने प्राचीन परिपाटी

के अनुकूल इन सभी छन्दों में तुक-योजना का ध्यान रखा है और इन्हें यति-भंग दोष से दूषित नहीं होने दिया है।

## महाकाव्यत्व

पाण्डेय जी की 'हल्दीघाटी' का खड़ी बोली के वीररसात्मक महाकाव्यों में महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में महाकाव्य के स्वरूप की विशद व्याख्या की गई है। आगे हम 'हल्दीघाटी' में महाकाव्य के लिए आवश्यक विभिन्न नियमों की उपलब्धि के प्रश्न को लेकर उन सबका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करेंगे:—

(१) महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण, खल-निन्दा और सज्जन-स्तुति अपेक्षित हैं। इसका कारण यह है कि काव्य-मर्मज्ञों ने साहित्य को अनादि रस के स्रोत के रूप में स्वीकार करते हुए उसके द्वारा लोक-मंगल के विधान को आवश्यक माना है। महाकाव्य के उपर्युक्त नियम द्वारा भी इसी लोक-हित की सिद्धि होती है और इसका पालन करने वाले काव्य का अध्ययन करने पर पाठक की अन्तर्वृत्तियों का श्रेय मार्ग की ओर उन्मुख होना लगभग अवश्यम्भावी हो जाता है। आलोच्य काव्य में कवि ने इन नियमों के निर्वाह का उचित ध्यान रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने काव्य के प्रारम्भ में 'नमस्कार' के रूप में 'मंगलाचरण' का विधान कर भारतवर्ष की अध्यात्मवादी विचार-धारा का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया है। सम्राट् अकबर और राजा मानसिंह की कार्य-प्रणाली की निन्दा कर कवि ने खल-निन्दा की है। इसी प्रकार महाराणा प्रताप, शूरवीर झाला और अन्य राजपूत सैनिकों के स्तवन के माध्यम से कवि ने सज्जन-स्तुति का विधान किया है।

(२) महाकाव्य की कथा के लिए सर्ग-बद्ध होना आवश्यक है और उसमें कम से कम आठ सर्गों की स्थिति अवश्य होनी चाहिए। इस नियम की आवश्यकता कथा में सूत्र-अन्वति के लिए होती है। इस दृष्टि से 'हल्दी-

घाटी' का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें सत्रह सर्ग हैं और कवि ने सर्ग-विभाजन करते समय कथा के उत्कृष्ट और व्यवस्थित रूप के विधान का निरन्तर ध्यान रखा है। उनकी कथावस्तु कहीं भी खण्डित रूप में उपलब्ध नहीं होती और इतने अधिक सर्गों की योजना द्वारा उन्होंने प्रत्येक सर्ग को उसके लघु आकार के कारण साधारण पाठक के लिए भी बोधगम्य रखा है।

(३) महाकाव्य में किसी एक ख्यात वृत्त के अतिरिक्त प्रासंगिक कथाओं की भी स्थिति होनी चाहिए। इस नियम की आवश्यकता कथानक के आकर्षण को सुरक्षित रखने के लिए होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम एक ही कथा का अध्ययन करते-करते परिश्रान्ति का अनुभव करने लगते हैं तब रुचि-परिवर्तन के लिए अन्य अवान्तर कथाओं का अध्ययन करने लगते हैं। आलोच्य काव्य में महाराणा प्रताप के वीरत्व की प्रसिद्ध कथा को आधिकारिक कथा का रूप प्रदान किया गया है। यह कथा सहृदय सामाजिक को सर्वत्र स्वाभाविक प्रतीत होती है तथापि वैविध्य-संयोजन के उद्देश्य से कवि ने प्रस्तुत काव्य में प्रासंगिक कथाओं को भी स्थान प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक कथाएँ नायक के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान कर वस्तु-सौन्दर्य में भी अभिवृद्धि करती हैं। इस दृष्टि से 'हल्दीघाटी' में निम्नलिखित इतर कथाएँ प्राप्त होती हैं :—

(क) शक्तिसिंह और महाराणा प्रताप के विग्रह की कथा।

(ख) राजा मानसिंह के आतिथ्य की कथा।

(ग) महाराणा प्रताप के परिवार के भोजन-संकट की कथा। कवि ने इसे राजकुमारी के रुदन के माध्यम से अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित किया है।

(४) महाकाव्य के नायक को धीरोदात्त प्रकृति का और सद्वंश-जात होना चाहिए। इस नियम की आवश्यकता कथानक में सदाशयता के आयोजन के लिए होती है। नायक काव्य के शेष पात्रों की वृत्तियों को

प्रभावित करने वाला और यत्र-तत्र उन्हें नियन्त्रित करने वाला मुख्य पात्र होता है। अतः उसे उच्च कुलोत्पन्न और महनीय गुणों से युक्त स्वभाव वाला होना ही चाहिए। इस दृष्टि से 'हल्दीघाटी' के नायक महाराणा प्रताप निश्चय ही धीरोदात्त स्वभाव से युक्त हैं और सद्वंशजात अभिजात वर्ग के क्षत्रिय हैं। उनके चरित्र का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह राजस्थान की शौर्य-प्रेरित संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर सामाजिक स्वास्थ्य की उपयुक्त रक्षा करते हैं।

(५) महाकाव्य में शृंगार, वीर और करुण नामक रसों में से किसी एक रस को प्रमुख स्थान प्राप्त होना चाहिए और शेष रसों का प्रयोग सहायक रसों के रूप में होना चाहिए। इस नियम का लक्ष्य महाकाव्य में रस-प्रयोग की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करना नहीं है, अपितु किसी एक रस को प्रमुखता देकर कृति में रस-समावेश के लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करना है। वस्तुतः मूल रस से सम्बद्ध किसी भी एक अथवा अधिक रसों को समाविष्ट करने की कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। 'हल्दीघाटी' के कवि ने इस नियम का निर्वाह करते हुए उसमें वीर रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है। इस रस का स्थायी भाव 'उत्साह' चेतना का विशेष उन्नयन करता है। अतः इस उन्नति का विधान करने वाले अन्य रस भी इसमें प्रसंगानुसार समाविष्ट हो गये हैं। वैसे कवि ने इस कृति में वात्सल्य और वीभत्स आदि रसों को वीर रस के विकास में सहयोग प्रदान करते हुए दिखाया है।

(६) महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग होना चाहिए और अन्त में छन्द-परिवर्तन कर देना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक सर्ग के अन्तिम छन्द में आगामी सर्ग की कथा की सूचना का सन्निहन रहना चाहिए। छन्द-प्रयोग-विषयक इन नियमों की आवश्यकता इसलिए होती है कि इनके द्वारा काव्य की वर्णन-शैली को विशृंखलित होने से बचाया जा सकता है। सम्पूर्ण सर्ग में केवल एक ही छन्द के निर्वाह से कवि को भाव-वर्णन में सुविधा

रहती है और सर्ग के अन्त में उसके परिवर्दन से छन्द-विषयक एकस्वरता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अन्तिम छन्द में आगामी सर्ग की कथा की सूचना प्रदान कर कवि पाठक को काव्याध्ययन में लीन रखने में अधिक सफलता प्राप्त करता है। यद्यपि 'हल्दीघाटी' में इनमें से प्रथम नियम का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया गया है तथापि इसके प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक छन्द का प्रयोग हुआ है और कवि ने सर्गान्त में छन्द को परिवर्तित करने का ध्यान रखा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पाठक के हृदय में औत्सुक्य-सृष्टि के लिए इस काव्य में सर्ग के अन्तिम छन्द में आगामी निकटवर्ती कथा की सूचना प्रदान करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उदाहरणार्थ अष्टम सर्ग के निम्नलिखित अन्तिम छन्द द्वारा नवम सर्ग में शत्रु के आगमन की संकेतात्मक सूचना देखिए:—

देने लगा महाराणा—
दिन रात समर की शिक्षा।
फूँक फूँक भेरी वैरी की—
करने लगा प्रतीक्षा॥

(७) महाकाव्य में स्थान-स्थान पर सन्ध्या, रजनी, प्रभात, षट्-ऋतु और मृगया आदि का वर्णन होना चाहिए। यह नियम रूप-विधान की सरसता के लिए अनिवार्य है और इसकी योजना से कवि प्रकृति और मानव के चिर-प्रचलित सम्बन्ध के विकास में अपना योग-दान देने में अधिक सुविधा प्राप्त कर पाता है। 'हल्दीघाटी' के कवि ने इस तथ्य का अनुभव कर इसमें प्रकृति के विभिन्न उपकरणों की चर्चा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है।

(८) महाकाव्य में समकालीन समस्याओं पर पूर्ण विचार किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से ऐतिहासिक काव्यों में स्पष्टतः उस युग की समस्याओं की चर्चा की जानी चाहिए जिसको लेकर उसकी रचना की

गई है। इस दृष्टि से 'हल्दीघाटी' में अकबरकालीन समस्याओं की चर्चा अपेक्षित है। सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक समस्याओं का यह कथन, विवेचन और समाधान युग-धर्म के निर्वाह के लिए आवश्यक होता है और इसके पालन से कथावस्तु में सर्वत्र स्वाभाविकता का प्रसार विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि 'हल्दीघाटी' में निम्नलिखित समस्याओं का समावेश हुआ है:—

**(क) कुटुम्ब-विग्रह की समस्या :—**

अवसर-विशेष पर भाइयों में पारस्परिक अनबन के कारण विश्व के प्रत्येक देश में कुटुम्ब-विग्रह की स्थिति उत्पन्न होती रही है। भारतवर्ष के लिए भी यह कोई नवीन समस्या नहीं है। पाण्डेय जी ने प्रस्तुत काव्य में महाराणा प्रताप और उनके अनुज शक्तिसिंह के विग्रह का वर्णन करते हुए इसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का कथन किया है और समाधान के लिए अन्ततः उन दोनों में प्रेम की स्थापना कराते हुए उग्रता पर स्नेह की विजय का प्रस्थापन किया है।

**(ख) सतीत्व-रक्षा की समस्या :—**

नारी की मर्यादा और गौरव के रक्षण की समस्या भी विश्वव्यापी है। भारतवर्ष में भी सतीत्व-रक्षा के लिए नारी के साहस अथवा उसके आत्म-बलिदान का परिचय कराने वाली अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। इतिहास साक्षी है कि भारतवर्ष में मुगल-शासन के समय यह समस्या पर्याप्त प्रबल रही है। प्रस्तुत काव्य में भी कवि ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए किरन द्वारा आत्म-बल का प्रदर्शन कराकर इसका समाधान उपस्थित किया है।

**(ग) हिन्दुत्व के संरक्षण की समस्या :—**

भारतीय इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ यवन-शासन-काल में हिन्दुत्व के संरक्षण की समस्या भी अत्यन्त प्रबल हो गई थी। कविवर श्यामनारायण पाण्डेय ने इस समस्या पर विधिवत्

विचार किया है और हिन्दू नरेशों की तत्कालीन राजनैतिक दुरावस्था की ओर संकेत कर अन्ततः महाराणा प्रताप को इसके समाधान की ओर प्रवृत्त दिखाया है। इस दृष्टि से महाराणा ने एक ओर तो अपने जाति-बन्धुओं को नव जागरण की प्रेरणा प्रदान करते हुए उन्हें देश की स्वतन्त्रता के रक्षण में सन्नद्ध रहने का सन्देश दिया है और दूसरी ओर राजा मानसिंह जैसे जाति-द्रोहियों के प्रति उपेक्षा और अपमान का व्यवहार कर उन्हें उनके विगत मान की व्यंजनात्मक रीति से स्मृति दिलाई है। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए समाधान उपस्थित करने के ये दोनों ही रूप समर्थनीय प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'हल्दीघाटी' में महाकाव्य के लिए आवश्यक सभी नियमों का निर्वाह हुआ है। भावात्मक तथा कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक सफल काव्य बन पड़ा है। इसका अध्ययन करने पर महाराणा प्रताप की विभिन्न चारित्रिक विशेषताएँ हमारे समक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो जाती हैं और हमारे हृदय में उत्साह-भाव अपने चरम रूप में व्याप्त हो जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि वर्तमान युग में भारतवर्ष एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है और केवल हिन्दुत्व के प्रसार को प्रोत्साहित करने वाले काव्य की आज महत्ता नहीं है, तथापि 'हल्दीघाटी' की केवल एक इसी आधार पर उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इसमें हिन्दुत्व की अपेक्षा वीरत्व के उन्मेष की ओर स्पष्ट ही अधिक ध्यान दिया गया है।

: २८ :

# हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना

प्रत्येक युग की अपनी पृथक् परम्पराएँ होती हैं और उसके साहित्य का सृजन भी सर्वथा उन्हीं के अनुरूप होता है। परिस्थितियों के प्रभाव से ही व्यक्ति की मानसिक चेतना उद्‌बुद्ध होती है और प्रत्येक युग के साहित्य में उन्हीं भावनाओं को प्रतिफलित करने का प्रयत्न होता है। आज का व्यक्ति भी अपनी संकुचित परिधि में एक गहन संवेदना का अनुभव करने लगा है और मन के उचित संस्कार के लिए उसके बन्धन से बाहर आने में ही वह अपने हित के दर्शन करने लगा है। इसी कारण वह अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्व देने लगा है और परमुखापेक्षिता की प्रवृत्ति उसके लिए सर्वत्र अनिवार्य रूप से [illegible] हो उठी है। इसी भावना के फलस्वरूप राष्ट्रीय विचार-धारा और राजनैतिक चेतना के स्फुरण को वर्तमान हिन्दी कविता में मूर्धन्य स्थान प्राप्त हुआ है।

साहित्य के अन्तर्गत राष्ट्र-प्रेम से सम्बन्धित भाव-प्रक्रिया को अनेक प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार की सभी प्रणालियों में आर्यत्व की परम्परागत प्राण-चेतना से सम्बन्धित दृष्टि सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके साथ-साथ भारतीय वातावरण के अनुकूल आस्तिक दर्शन का आधार ग्रहण कर देश में जागृति उत्पन्न करना और भी अधिक स्वाभाविक है। शुद्ध और निश्छल मनोवृत्ति से परिवेष्टित होने के कारण इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति स्वदेश के प्रति हमारे अनुराग व

गौरव के भाव को निश्चय ही और भी अधिक स्पष्ट कर सकेगी। इस प्रवृत्ति का आलम्बन ग्रहण करने पर राष्ट्र के प्रति हमारी अनुरक्ति उचित परिमाण में ही स्पष्ट होगी। विश्व-कवि श्रीयुत रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का परिकलन विचार-प्रकाशन की इसी प्रणाली के अन्तर्गत किया जाता है। बंगाल के ही एक अन्य कवि बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय का चिर-परिचित 'बन्देमातरम्' शीर्षक गान भी इसी राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है। इस गीत के अन्तराल में कवि ने पुण्य-भूमि भारतवर्ष की एक अत्यन्त पवित्र और गौरवमय आत्मा की प्रतिष्ठा की है।

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भाव का प्रारम्भ अपेक्षाकृत आधुनिक है। इससे पूर्व वीरगाथा काल में उसकी एक धारा प्राप्त अवश्य होती है, किन्तु उसका स्वरूप अपने आप में अत्यन्त क्षीण है। इसका कारण यही है कि उस युग में उत्साह की भावना पूर्ण विकास प्राप्त करने पर भी एक सीमित परिधि में आबद्ध थी। तत्कालीन चारण-कवि अपने आश्रयदाता नरेशों का स्तव-गान करते हुए जिन प्रशंसात्मक कविताओं की रचना किया करते थे वे राष्ट्रीयता का केवल स्पर्श ही करती थीं। राष्ट्र-चेतना-सम्बन्धी भावों की पूर्ण प्रतिपत्ति उनमें प्रायः न हो पाती थी और यही कारण है कि उनकी ओर आकर्षित होने पर भी हम उनके अध्ययन द्वारा पूर्ण आनन्द का लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं।

भक्ति काल में समाज के समक्ष जनता की पराजित मनोवृत्ति का निराकरण कर उसे धर्म की ओर प्रवृत्त करते हुए श्रेयात्मक मार्ग का अवलम्ब प्रदान करने की एक नवीन समस्या आ खड़ी हुई। विधर्मियों से पराजित होने के कारण जनता के हृदय की सब कामनाएँ समाप्त हो चुकी थीं और वह आत्यन्तिक सुख प्रदान करने वाले किसी एक आश्रय की खोज में विकल थी। उस समय के साहित्य ने जनता की इस आवश्यकता को समझा और कबीर, सूर, तुलसी तथा मीरा ने अपने भक्तिपूर्ण पदों से जन-मानस को पूर्ण शान्ति प्रदान की। अतः परिवर्तित राजनैतिक परि-

स्थितियों के कारण इस युग के कवियों के समक्ष राष्ट्रीय भाव को अभि-व्यक्त करने का अवकाश ही न रहा और साहित्य की यह धारा पूर्णतः उपे-क्षित ही रही।

रीतिकाल में शृंगारिक वातावरण की स्थिति होने पर भी कविवर भूषण, लाल और सूदन ने अपने वीररसात्मक काव्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। इन तीनों कवियों में भूषण को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई और उन्होंने संकुचित मनोवृत्तियों के साधारण स्तर से ऊपर जाकर एक नये प्रेरणाप्रद काव्य का सृजन किया। उनकी कविताओं में केवल वीरवर शिवाजी अथवा छत्रसाल का ही वर्णन नहीं है, अपितु उन्होंने उनके शौर्य का गान करने के साथ-साथ अपने काव्य में राष्ट्र का ध्यान रखते हुए अनेक अन्य उपयोगी तत्वों का भी समावेश किया है। खेद है कि उन्हें अपने अन्य सहयोगी कवि-बन्धुओं से अधिक उत्साह की प्राप्ति न हुई। यही कारण है कि राष्ट्रीय दृष्टि से सशक्त होने पर भी उनके काव्य का उस समय अधिक प्रचार न हो सका।

आधुनिक काल हिन्दी के लिए प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में जिन नवीन भावनाओं का उदय हुआ, आज भी हम उन्हीं का विकास कर रहे हैं। राष्ट्रीय कविता का पूर्ण ओज भी वास्तव में यहीं से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगी कवियों ने अपने समय की राजनैतिक अवस्था का यथातथ्य निरूपण करते हुए देश के उत्कर्ष और अपकर्ष, दोनों का ध्यान रखा है। इस युग के कवि अपनी कविताओं द्वारा जनता का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट करना चाहते थे और इस दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता की प्राप्ति हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियों में करुणा के साथ-साथ मर्मस्पर्शिता का संलग्न रहना इसी तथ्य का प्रतीक है :—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।<br>
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इसी युग में पं० प्रताप नारायण मिश्र ने भारतवर्ष की भाँति भारत की लोक-प्रिय भाषा हिन्दी के गौरव की भी स्थापना की और अपने काव्य में दोनों को विशद स्थान दिया। उन्होंने जनता को नवीन स्फूर्ति और सजग उल्लास प्रदान किया। उनके कुछ समय पश्चात् पं० सत्यनारायण कवि-रत्न ने भी इसी भाव को विकसित करते हुए अपने 'भ्रमर-गीत' नामक काव्य में कृष्ण से याचना की कि वह अपने देश का स्मरण कर जन्म-भूमि की रक्षा में तत्पर हों। उनके समकालीन कवि श्रीयुत श्रीधर पाठक ने राष्ट्रीय भाव के प्रतिपादन के लिए प्रकृति से सहायता ग्रहण की और भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया। इस प्रकार उनके वर्णनों ने भी हमारे हृदय में स्वदेश के प्रति अनुराग की भावना को जाग्रत किया।

द्विवेदी युग में श्रीयुत महाबीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से राष्ट्रीय कविता का स्वरूप निरन्तर विकासमग्न रहा और सरस्वती-सम्पादक के रूप में उन्होंने इस भाव को पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया। उनके समकालीन कवियों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस भाव की पूर्ण रक्षा की और अपने काव्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राष्ट्रीय भाव-धारा का पर्याप्त समावेश किया। उन्होंने अपने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण और राधा, दोनों को ही लोक-सेवा में निमग्न दिखाया है। इसी प्रकार 'रस-कलस' में नायिका-भेद का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वदेश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने वाली नायिकाओं की कल्पना की है।

द्विवेदी युग के एक अन्य महाकवि श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में भारतीय संस्कृति की मर्यादाओं का पूर्ण निर्वाह किया है। इस दिशा में उनके 'भारत-भारती', 'अजित' और 'जयभारत' नामक काव्य-ग्रन्थ विशेष सुन्दर और प्रेरणाप्रद बन पड़े हैं। कथा-प्रवाह में प्रासंगिक रीति से अवसर प्राप्त होने पर उन्होंने 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसे अन्य कव्यों में भी राष्ट्रीय भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'भारत-भारती' में उन्होंने भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और समृद्धि का

उपयुक्त चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जीवन-व्यवस्था के प्रति असन्तोष प्रकट करते हुए उन्होंने उसके आधार पर भविष्य के प्रति भी चिन्ता व्यक्त की है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं और इन्होंने अपने रचना-काल से अब तक अनेक व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान की है :—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्याएँ सभी॥

गुप्त जी के पश्चात् काल-क्रम की दृष्टि से कविवर जयशंकर 'प्रसाद' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने कविताओं के साथ-साथ नाटकों की रचना भी की है और इन सभी में भारतीय इतिहास को राष्ट्रीय रूप में उपस्थित किया गया है। 'कामायनी' नामक महाकाव्य में उन्होंने मनु और श्रद्धा की कथा को जिस सांस्कृतिक रूप में उपस्थित किया है उसमें राष्ट्रीयता के सभी चिन्ह वर्तमान हैं। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'राज्य श्री' नाटकों में भी उन्होंने गुप्तकालीन तथा हर्षयुगीन संस्कृति को राष्ट्रीय रूप में प्रस्तुत किया है।

वर्तमान युग में पं० माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने राष्ट्रीय भाव-धारा को विशेष समृद्धि प्रदान की है। चतुर्वेदी जी की कविताओं में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति श्रद्धा की भावना का सन्निहन रहा है। उन्होंने राष्ट्र के जीवन में आने वाली सभी विषमताओं का खुलकर विरोध किया है और उनकी कविताओं में उद्बोधन-शक्ति का सर्वत्र संचार रहा है। 'हिम-तरंगिणी' तथा 'हिम-किरीटिनी' में उनकी इस प्रकार की अनेक कवितायें संगृहीत की हैं। आगे हम उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता की कुछ अमर पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—

मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक।

मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक ।।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताओं में राष्ट्र के प्रति एक विशेष आह्वान की भावना का सन्निहन रहा है। उन्होंने हमें भाव और कर्म, दोनों ही की दृष्टि से एक नूतन सन्देश प्रदान किया है। व्यक्तित्व को दबाकर रखने की अपेक्षा वह उसके प्रकटीकरण में अधिक विश्वास रखते हैं। कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की कविताओं में भी लगभग यही भावना दृष्टिगत होती है। अन्तर केवल यही है कि उन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में 'नवीन' जी के उपर्युक्त भाव के अतिरिक्त माधुर्य भाव का भी समन्वय कर दिया है।

आधुनिक युग के अन्य कवियों में कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय चेतना का अंकन करते समय क्रान्ति की भावना को मुख्य रूप से अपनाया है। इसी कारण उनके काव्य में एक ओजपूर्ण परुष भाव की व्याप्ति हुई है। उनकी 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' आदि सभी कृतियों में इस प्रवृत्ति के स्पष्ट चिन्ह उपलब्ध होते हैं। वास्तव में वह भाव-प्रतिपादन की दृष्टि से कविवर 'नवीन' की परम्परा में आते हैं और उन्होंने उन्हीं की विचार-धारा की एक नवीन रीति से व्याख्या की है। स्वदेश के प्रति अपने सहज अनुराग के कारण वह उसमें व्याप्त विषमता के विष को किसी भी उपाय से नष्ट कर देना चाहते हैं:—

छिप जाऊँ कहाँ तुम्हें लेकर ?
इस विष का क्या उपचार करूँ ?
प्यारे स्वदेश ! खाली जाऊँ ?
या हाथों में तलवार धरूँ ?

वर्तमान युग के कुछ कवियों ने अपने राष्ट्रीय काव्य की रचना करते

समय गांधीवाद से विशेष सहायता ग्रहण की है। इन कवियों में कवि श्री सियाराम शरण गुप्त और पं० सोहन लाल द्विवेदी अग्रगण्य हैं तथापि भाव-तत्व की दृष्टि से द्विवेदी जी ने इस दिशा में गुप्त जी की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर कार्य किया है। उन्होंने राष्ट्र-हित के लिए वर्तमान संघर्ष-वादी युग से प्रत्यावर्तन का अनुमोदन करते हुए ग्रामों की सहज विकास-शील प्रकृति की ओर लौट चलने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। राष्ट्रीय भाव की पूर्ण प्रगति के लिए वह अहिंसा के आलम्बन को अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने इस दिशा में अपने अन्य सहयोगी कवियों की अपेक्षा एक नवीन प्रयोग किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्तमान युग में महिलाओं ने भी राष्ट्रीय काव्य के सृजन की ओर ध्यान दिया है। इस दृष्टि से सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने राष्ट्र के प्रति अपनी श्रद्धांजलि को अत्यन्त सरल और पवित्र शब्दों में व्यक्त किया है। उनकी कविताओं में उत्साह-भावना का अत्यन्त सुन्दर रीति से परिपाक हुआ है और इस दृष्टि से उनकी 'झांसी की रानी' शीर्षक कविता सर्वप्रमुख है। उन्होंने इस कविता में राष्ट्रीय भाव का सर्वत्र समान रूप से सन्तुलन रखा है। वास्तव में उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय भाव-धारा को जितने सहज रूप में उपस्थित किया है उसके लिए वह प्रशंसा की पात्र हैं। उनके अतिरिक्त कवयित्री महादेवी वर्मा और श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने भी अपनी कतिपय मुक्तक कविताओं में राष्ट्रीय विचार-धारा का सहज समन्वय उपस्थित किया है।

संक्षेप में हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का विकास इसी क्रम से हुआ है। वर्तमान काल में श्रीयुत नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन' तथा रामेश्वर शुक्ल' 'अंचल' उल्लेखनीय हैं, किन्तु उन्हें राष्ट्रीय काव्य की रचना में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसका कारण यही है कि उन्होंने

अपनी काव्य-वस्तु का संकलन भारत से न कर रूस की लाल भूमि से किया है। इस प्रकार उनके काव्य का आधार ही प्रारम्भ से दोषपूर्ण रहा है। वास्तव में उन्हें राष्ट्रीय काव्य की रचना में केवल तभी सफलता प्राप्त हुई है जब उन्होंने अपने प्रतिनिधि कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त की भाँति भारत के सांस्कृतिक आदर्शों की ओर उन्मुख होकर काव्य-रचना की है।

अन्त में हमारा प्रतिपाद्य यही है कि हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा का उपर्युक्त अध्ययन करने पर उसके उज्ज्वल भविष्य के बारे में कोई शंका अवशिष्ट नहीं रह जाती। वर्तमान हिन्दी-कवियों ने लोक-गीतों के प्रति अपनी उपेक्षा-वृत्ति का त्याग कर दिया है और उनकी यह सहृदयता अन्त में लाभप्रद ही सिद्ध होगी। लोक-गीतों के अंचल में राष्ट्र-प्रेम की धारा अत्यन्त निर्मल रूप से प्रवाहित हुई है और यह स्पष्ट है कि उनके अध्ययन से हमारे राष्ट्रीय काव्य को एक नवीन दिशा प्राप्त होगी।

# परिशिष्ट

(कतिपय कवियों के विषय में प्राप्त काव्योक्तियों का संग्रह)

## चन्दबरदाई

**कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—**

हिन्दू-कवि, हिंदुवान-कवि, हिन्दी-कवि रसकन्द ।
सुकवि, महाकवि, सिद्धकवि, धन्य-धन्य कवि चन्द ।।
भयौ उदित हिन्दुवान-नभ, चारुचन्द कवि चन्द ।
रही बगरि चहुँ जोन्ह-सी, रचना रुचिर अमन्द ।।
रचि रासो रस-रासि अति, उद्भट काव्य सुछन्द ।
पृथ्वीराज चौहान-जसु, अजर अमर किय चन्द ।।
फिरदौसी किन जाय दुरि, देखत हीं कवि चन्द ।
जासु प्रभा लखि परि गयौ, कवि होमर हूँ मन्द ।।

—(वीर-सतसई, द्वितीय शतक, दोहे ७ से १० तक)

## सन्त कबीरदास

**महात्मा कबीर का अन्तर्साक्ष्य—**

मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ ।
चारिउ जुग का महातम, कबिरा मुखहिं जनाई बात ।।
गंग लहर मेरी टूटी जंजीर, मृग छाला पर बैठे कबीर ।
कह कबीर कोउ संग न साथ, जल-थल राखत हूँ रघुनाथ ।।

—(बीजक)

## महात्मा सूरदास

**(१) अज्ञात कवियों द्वारा लिखित—**

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर॥
तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी॥
सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

**(२) प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—**

'भ्रमरगीत' की गोपियाँ, चेतन हैं उद्‌बुद्ध।
उनमें मन का राग है, तपः पूत औ' शुद्ध॥

## गोस्वामी तुलसीदास

**(१) कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—**

विनयपत्रिकाकार त्यों, रामचरित-रस-रास।
बन्दौं कवि-कुल-तिलक, श्री रसनिधि तुलसीदास॥
—(विनय-पत्रिका, हरितोषिणी टीका, मंगलाचरण)

**(२) अज्ञात कवि द्वारा लिखित—**

सूर ससी तुलसी रवी, उडगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

**(३) श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा लिखित—**

कविता करके तुलसी विलसे।
कविता लसी पा तुलसी की कला॥

(४) श्री गोपालशरणसिंह द्वारा लिखित—

भक्ति-भाव-भण्डार तुम्हारा,
विमल उदार हृदय-कासार।
कैसा था आगार प्रेम का,
परम ज्ञान का पारावार!

× × ×

हमको तुमने दिया न केवल,
काव्य-रत्न का ही उपहार।
रामचरितमानस में तुमने,
भरा दर्शनों का भी सार॥

× × ×

जिसकी कीर्ति-कौमुदी का है,
जग में फैला हुआ प्रकाश।
उसके ऊपर कुटिल काल का
भी होता है विफल प्रयास॥
कहीं नहीं तुम गये, हुआ है
भौतिक तन का केवल नाश।
ग्राम-ग्राम में धाम-धाम में,
अब भी कहाँ तुम्हारा वास॥

—(संचिता, पृष्ठ १३१-१३३)

## आचार्य केशवदास

(१) कविवर भिखारीदास द्वारा लिखित—

एक लहैं तप पुंजन के फल,
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।

एकन को बहु-संपत्ति केशव,
भूषन ज्यों बलवीर बड़ाई ॥
एकन को जस ही सों प्रयोजन,
है रसखानि रहीम की नाईं ।
दास कवित्तन की चर्चा,
गुनवन्तन को सुखदै सब ठाईं ॥

(२) **केशव द्वारा स्वतः लिखित—**

अलंकार कवितान के, सुनि-सुनि विविध विचार ।
कविप्रिया केशव करि, कविता को सिंगार ॥
समझें बाला बालकहु, वर्णन-पंथ अगाध ।
कविप्रिया केशव करि, छमियो कवि अपराध ॥

—(कविप्रिया, तृतीय प्रभाव)

## महाकवि भूषण

(१) **कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—**

सिवा-सुजस-सरसिज-सुरस-मधुकर मत्त अनन्य ।
रस-भूषण-भूषण, सुकवि-भूषण, भूषण धन्य ॥
कविभूषण सों सरि, कहौ करिहै को मति-अंध ।
जासु पलकि कहँ दियौ, छत्रसालु निज कंध ॥
रिपुगण सुनि भूषण-कवितु, क्यों न होहिं शर-विद्ध ।
जाकी रसना पै सदा, रहती चंडिका सिद्ध ॥
किधौं इन्द्र को बज्र, कै प्रलय-कृसानु अमन्द ।
किधौं रुद्र रण-चण्ड-चखु, कवि भूषण कौ छन्द ॥

—(वीर-सतसई, द्वितीय शतक, दोहे १२ से १५ तक)

(२) **महाकवि भूषण द्वारा लिखित—**

शिव-चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त ।

भाँति भाँति भूषनन सों, भूषित करौं कवित्त ।।

## कविवर बिहारीलाल

**(१) अज्ञात कवियों द्वारा लिखित--**

ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल ।
सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल ।।
सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ।।
जो कोई रस-रीति कौ, समुझा चाहै सार ।
पढ़ै बिहारी-सतसई, कविता को सिंगार ।।

**(२) प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित--**

कवि-मनसा झुकी बिहारी की, लेने लगी हिलोर ।
क्षण-क्षण में नव रूप निरख कर, गही प्रीति की डोर ।।

धीरे धीरे उतर चले फिर, स्वप्न-जगत् से राही ।
लौकिक छवि के साथ-साथ मधु, कृष्ण-छवि अपनाई ।।

राधा हास-विलास हुआ फिर, धीरे से साकार ।
दिव्य प्रेम-रस के सिंचन से, काव्य बना उर-हार ।।

धन्य-धन्य तुम, अरे बिहारी ! धन्य प्रीति-उपहार !
व्याप रहा अग-जग में शुभ, तव रस-मादक उद्गार !!

## श्री मैथिलीशरण गुप्त

**कविवर सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा लिखित--**

योग्य नहीं कुछ भेंट : आप चिर मैथिली शरण,
गीत मैथिली के गा छूता स्नेह से चरण !
शैशव ही से रहा आप के प्रति आकर्षण
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनकरण !

अमर भगीरथ आप, रसात्मक तृषा कर हरण
स्वरापगा का प्रथम कराया मधुर अवतरण !
सरस्वती से स्वयं आपका सुन वीणा क्वण
कर्ण बन गये जन के प्यासे जन्हु के श्रवण !
'सूर सूर तुलसी शशि........' लगता मिथ्यारोपण
स्वर्गंगा तारापथ में कर आप के भ्रमण !
स्वर्ण कलश कवि यश की यशोधरा नि : संशय,
बसा गये साकेत, शिल्पि, नव आप चिरंतन;
व्यथा कथा लिख गए गुप्त हृत्पत्र पर अभय,
भारत नारी तीर्थ उर्मिला का उर क्रन्दन !

—('भक्ति प्राण' शीर्षक कविता से)

## गुप्त जी की आलोचनात्मक रचनाएँ

१. काव्य-समीक्षा

(हिन्दी के प्रमुख काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन)

मूल्य : चार रुपए

२. काव्यानुशीलन

(हिन्दी-काव्य की विस्तृत आलोचना)

मूल्य : साढ़े चार रुपए

३. काव्य-विवेचन (प्रेस में)

(हिन्दी के प्रतिनिधि कवियों की काव्य-कृतियों का समीक्षण)

मूल्य : साढ़े चार रुपए

४. साहित्य-चिन्तन

(साहित्य के विभिन्न अंगों का स्वरूप और व्याख्या)

मूल्य : तीन रुपए

५. हिन्दी-कवियों की काव्य-भावना

(हिन्दी की प्राचीन और नवीन काव्य-धारा का सौन्दर्यवादी विश्लेषण)

मूल्य : तीन रुपए

६. सूर का भ्रमरगीत साहित्य

(महाकवि सूरदास के भ्रमरगीत की विशद आलोचना)

मूल्य : डेढ़ रुपया

७. नई कली : नया पराग
(हिन्दी के कतिपय आलोचकों के निबन्धों का संकलन)
**मूल्य : एक रुपया**

८. रानी केतकी की कहानी
(सैयद इंशा अल्ला खाँ की कृति का आलोचनात्मक भूमिका-सहित सम्पादन)
**मूल्य : आठ आना**

९. प्राचीन कवियों की काव्य-भावना
(हिन्दी की प्राचीन काव्य-धारा का विश्लेषण)
**मूल्य : डेढ़ रुपया**

१०. आधुनिक कवियों की काव्य-भावना
(हिन्दी के प्रमुख आधुनिक कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक चर्चा)
**मूल्य : डेढ़ रुपया**

११. पर्दा उठता-गिरता है
(हिन्दी-एकांकी के स्वरूप और प्रगति की चर्चा तथा कतिपय प्रमुख एकांकियों का सम्पादन)
**मूल्य : तीन रुपए**

१२. काव्य-कमल
(हिन्दी के उत्कृष्ट काव्यांशों का संकलन तथा हिन्दी-काव्य की प्रगति का उल्लेख)
**मूल्य : डेढ़ रुपया**

प्राप्ति-स्थान

**भारती साहित्य मन्दिर**

फव्वारा, दिल्ली